# विवाह मीमांसा

बद्रीदत्त जोशी।

* ओ३म् *

# विधवोद्वाहमीमांसा

जिसमें

शास्त्रीय और लौकिक प्रमाणों से

## विधवाविवाह की

निष्पक्ष आलोचना कीगई है

लेखक व प्रकाशक

पं० बदरीदत्त जोशी

नेमीचन्द जैन के प्रबन्ध से

"शर्मा मैशीन प्रिंटिङ्ग प्रेस" मुरादाबाद में छपा।

संवत् १९८० वि०

प्रथमसंस्करण ] [ मूल्य

१००० ] [ १)

# समर्पण

श्रीमान् ठाकुर बैजनाथसिंहजी

अध्यक्ष नाथ नायल कंपनी

इनानजांग ( बरमा )

श्रीमन् !

आपकी ही प्रेरणा से यह पुस्तक लिखी गई है। सम्भव है कि मेरी अल्पज्ञता से इसमें बहुतसी त्रुटियां रह गई हों, और यह आपके मन को भी आकर्षण करने योग्य न हो, अस्तु यथाशक्ति मैं इसे जैसा भी संपादन कर सका हूं सादर आपकी सेवा में समर्पित करता हूं। आशा है कि आप सेवक के इस प्रेमोपहार को स्वीकार करके अपनी उदारता का परिचय देंगे।

भवदीय—कृपापात्र—

बदरीदत्त जोशी

वैदिकपुस्तकालय, मुरादाबाद।

# आवश्यक निवेदन ।

प्रियहिन्दू बान्धवो ! हमने अबतक प्रमाद से या स्वार्थ से या भ्रमात्मक विश्वास से जिस भी कारण से हो, स्त्री-जाति की उपेक्षा की और उसीका यह फल है कि आज हमारी सभ्यता ही नहीं, किन्तु जातीय सत्ता भी संसार से मिटने को है और क्यों नहो जबकि हमारे पूर्वज ही कहगये हैं:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेवच ।
स्वंच धर्मः प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ मनु०

क्या सचमुच हम इन सन्तान और कुल कीही नहीं, किन्तु जातीय चरित्र और जातीय धर्म को भीं ढालने वाली देवियों की उपेक्षा करके एक पग भी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। कदापि नहीं। आज पचास वर्ष से इतना आन्दोलन होनेपर भी हम वहीं खड़े हैं, जहां हमारे पूर्वजों ने हमको छोड़ा था। इसका कारण यही है कि हम अपने संसार और परमार्थ के साथी को छोडकर आगे बढना चाहते हैं। अस्तु

अब यदि हम इस संसार में अपनी जातीय सत्ता की रक्षा करना चाहते हैं तो सब से पहले हमें इस अबला स्त्री जाति के प्रति अपने कर्तव्य को पालन करना होगा। इसी उद्देश से यह पुस्तक आपकी सेवा में भेंट की जाती है। आशा है कि आप सबलों से अपने अधिकार मांगने के पहले निर्बलों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

लेखक

# विषयानुक्रमणिका।


| विषय | पृष्ठाङ्क |
| --- | --- |
| **प्रस्तावना** | **१—२२** |
| विवाह का उद्देश | १—२ |
| प्राचीन भारत की स्त्रियां | ३—४ |
| स्त्रीजाति का महत्व | ४—८ |
| विकास का विपरीत परिणाम | ८-१० |
| अराजकता का समाज पर प्रभाव | १०-१२ |
| एक और परिवर्तन का कारण | १३-१४ |
| बालविधवाओं की शोचनीय दशा | १४-१६ |
| विधवाओं के प्रति शिक्षितों का कर्त्तव्य | १६-२० |
| लेखक का वक्तव्य | २०-२२ |
| ग्रन्थ सूची | २३-२५ |

## पहला अध्याय।

| | |
| --- | --- |
| **धर्मशास्त्र और विधवाविवाह** | **२६—१०४** |
| समाज और धर्मशास्त्र | २६—२८ |
| देश, काल और पात्र | २८—३० |
| उत्सर्ग और अपवाद | ३१—३२ |
| विधि और निषेध | ३२—३३ |
| क्या सब बातों में हम शास्त्र की आज्ञा पालते हैं | ३३—३४ |
| विधवाविवाह शास्त्रसम्मत है | ३५—३६ |
| वेद और विधवाविवाह | ३६—३८ |
| वैदिक प्रमाण | ३६—५१ |

क्या वेद में कहीं विधवाविवाह का निषेध भी है ५१—५६
स्मृतिशास्त्र और विधवाविवाह ५६—५७
पराशरस्मृति और विधवाविवाह ५७—६१
आक्षेप और उनकी आलोचना ६१—७०
वर्तमान मनुसंहिता ७०—७५
मनुस्मृति में विधवाविवाह की आज्ञा ७५—७७
विपक्षियों की शङ्कायें ७७—८२
मनुवाक्यों का दुरुपयोग ८३—८८
अन्यस्मृतियां और विधवाविवाह ८८—९६
अन्यप्रमाण ९६—९८
पुराण और विधवाविवाह ९८—१००
ऐतिहासिक उदाहरण १००—१०४

## दूसरा अध्याय ।

आक्षेप और उनका समाधान १०५—१५२
कलियुग का पचड़ा १०५—११५
विवाह की छूत ११५—११८
विवाह विधि ११८—१२१
कन्या शब्द का निर्वचन १२१—१२३
कन्यादान १२३—१३२
आठ विवाहों का रगड़ा १३२—१३३
पुनर्भू का पचड़ा १३३—१३४
गोत्र काप्रश्न १३४—१३९
विचित्र मर्यादा १३९—१४३
लोकापवाद १४३—१४५
आदर्शवाद १४५—१४७

| | |
|---|---|
| पति की अवस्था | १४७-१४८ |
| स्त्रीस्वातंत्र्य | १४८-१५० |
| कन्याओं के स्वत्व पर आघात | १५०-१५१ |
| सम्पत्ति पर विवाद | १५१-१५२ |


## तीसरा अध्याय ।


| | |
|---|---|
| **आचार और समाज** | **१५३—१९३** |
| धर्मशास्त्र और आचार | १५३-१५८ |
| विधवाविवाह एक | १५८-१६२ |
| सिद्धान्त और आचार | १६२-१६४ |
| शूद्र और विधवाविवाह | १६४-१६६ |
| संस्कार और आचार | १६६-१६८ |
| अन्धानुकरण और अन्धविश्वास | १६८-१७० |
| विवेक और आचार | १७०-१७३ |
| समय का आचार पर प्रभाव | १७३-१७५ |
| देश का आचार पर प्रभाव | १७५-१७८ |
| शासन का आचार पर प्रभाव | १७८-१८१ |
| पाश्चात्य सभ्यता का आचार पर प्रभाव | १८१-१८६ |
| आचार और बृटिशसरकार | १८७-१९३ |


## चौथा अध्याय ।


| | |
|---|---|
| **सामाजिक अत्याचार** | **१९४—२२४** |
| शिक्षा का अभाव | १९४-१९६ |
| सन्तान का अयोग्य होना | १९६-१९७ |
| गृहस्थ की दुर्दशा | १९८-२०० |

| | |
|---|---|
| दाम्पत्य प्रेम का अभाव | २००–२०१ |
| बालविवाह | २०१–२०३ |
| विवाह के उद्देश का पूरा न होना | २०३–२०५ |
| गृहस्थाश्रम की दुर्दशा | २०५–२०७ |
| बालविधवाओं की वृद्धि | २०७–२०८ |
| शिक्षा और स्वास्थ्य की हानि | २०८–२१० |
| सन्तान का निर्बल एवं क्षीण होना | २१०–२१२ |
| वैधव्य | २१२–२१४ |
| हमारी निर्दयता | २१४–२१५ |
| व्यभिचार की वृद्धि | २१५–२१७ |
| गर्भपात और भ्रूणहत्या | २१७–२१९ |
| कुमारी कन्याओं पर अत्याचार | २१९–२२० |
| आजीविका का अभाव | २२०–२२१ |
| ईश्वरीय नियम की अवज्ञा | २२१–२२२ |
| अन्तिम निवेदन | २२३–२२४ |

## परिशिष्ट ।

| | |
|---|---|
| अर्वाचीन विद्वानों की सम्मति | २२५—२५६ |

# प्रस्तावना ।

## विवाह का उद्देश ।

इस सृष्टि की गाड़ी को चलाने के लिए विधाता ने स्त्री और पुरुष रूप दो चक्र निर्माण किए हैं। ये दोनों मिलकर ही सृष्टि के उद्देश को पूरा कर सकते हैं, पृथक् २ रहकर नहीं। इसीलिए प्रकृति देवी ने इनमें परस्पर सख्य और साहचर्य स्थापित किया है। जहां जहां मनुष्यसृष्टि है, वहां वहां हम इन दोनों को मिलकर रहते और काम करते हुवे पाते हैं। यहां तक कि जंगली और असभ्य जातियों में भी स्त्री पुरुषों का स्वाभाविक प्रेम और सहवास अनिवार्य है। चाहे वह अनिर्बन्ध और अमर्याद ही क्यों न हो। इस प्रेम को पवित्र और स्वर्गीय बनाने के लिए संसार की समस्त सभ्य जातियों ने विवाह का बन्धन नियत किया है। यदि यह बन्धन न होता, न तो गृहस्थाश्रम ही होता और न सन्तान या वंश की परंपरा ही इस संसार में चलती। गृहस्थाश्रम जो सब आश्रमों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना गया हैं इसी विवाह का परिणाम है। यदि विवाह न होता तो फिर मनुष्यों में और पशुओं में कुछ भी अन्तर न होता।

विवाह के दो उद्देश सर्वसम्मत हैं, (१) दाम्पत्य प्रेम (२) सन्तानोत्पत्ति, इन दोनों में भी पहला ही मुख्य है, क्यों कि उसके विना न तो कोई गृहस्थ का आनन्द ही अनुभव कर सकताहै और, न योग्य एवं अनुकूल सन्तान की उपलब्धि होस-

कती है। यों सन्तान तो पशु पक्षी भी उत्पन्न करते हैं और समर्थ होनेतक उनका लालन पोषण भी करते हैं। दाम्पत्य प्रेम के ही कारण एक दरिद्र और अकिञ्चन का घर भी स्वर्ग बन जाता है और इसके अभाव में संपन्न और समृद्ध घर भी कांटे की तरह खटकता है। इस दाम्पत्य प्रेम की महिमा अचिन्त्य और अवर्णनीय है। बड़े बड़े ऋषि मुनि भी उसका वर्णन करते करते थक गये हैं। मनुष्य जन्म पाकर जिन्होंने इस प्रेम पीयूष का पान नहीं किया वे या तो रोगी हैं या पशु?

अब प्रश्न यह है कि यह दाम्पत्य प्रेम जो विवाह का सर्वोच्च उद्देश और गार्हस्थ्य जीवन का सर्वस्व है, स्त्री पुरुषों में कब और क्योंकर रह सकता है? संसार में प्रेम का आधार केवल एक वस्तु है, जिसको समता कहते हैं। सहानुभूति विषमता में भी होती है, पर प्रेमलता सर्वत्र समता की टट्टी में ही फैलती है। विषमता की ऊंची नीची भूमि में उसे फैलने का अवकाश ही नहीं मिलता। मन का धर्म है कि वह अनुकूल वस्तु को पाकर प्रसन्न और प्रतिकूल से अप्रसन्न होता है। अनुकूलता विना समता का आधार पाये ठहर नहीं सकती, वह विषमता से उतनी ही दूर भागती है, जितनी कि पर्वत की विषमभूमि से कोई नदी। भय या आतङ्क से प्रेम नहीं, किंतु उद्वेग उत्पन्न होता है। जो लोग अपने धनमद, बल-मद या धर्ममद से इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन करके असमानों में मैत्री स्थापन करना चाहते हैं, वे वास्तव में मित्रता को शत्रुता के रूप में परिणत करना चाहते हैं। जैसा कि किसी कविने कहा है:—

सरलयोः सखि सख्यमुदीरितं तरलयोर्घटनैव न जायते।
यदि भवेत्तरले सरलेऽथवा न चिरमस्ति धनुः शरयोरिव॥

## प्राचीन भारत की स्त्रियां।

मनके इसप्राकृतिक झुकावको देखकरही संसारकी समस्त सभ्य जातियों में युवा और समर्थ स्त्री पुरुषों के विवाह की परिपाटी प्रचलित है। क्योंकि बाल्यावस्था में न तो वे एक दूसरे की परीक्षा ही कर सकते हैं और न उनकी की हुई प्रतिज्ञायें किसी धर्म या कानून की दृष्टि में कुछ मूल्य रखती हैं। इसविषय में और २ देशों ने तो पीछे से उन्नति की है, पर भारत का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि यहां पूर्वकाल में मानसिक, शारीरिक और सामाजिक जो कुछ उन्नति हुई, उसमें भारतीय महिलाओं ने किसी अंश में भी पुरुषों से कम भाग नहीं लिया। और तो और ब्रह्मविद्या जैसी सूक्ष्म और महाविद्या के अध्ययन और प्रवचन में भी हम याज्ञवल्क्य और जनक जैसे तत्वदर्शियों के साथ गार्गी और सुलभा जैसे स्त्री रत्नों को बराबर काम करता हुवा पाते हैं। ऋग्वेदके (जो संसार के साहित्य में सब से प्राचीन पुस्तक है) ऋषियों में जहां हम विश्वामित्र, वामदेव और वसिष्ठ आदि पुरुषों का नाम पाते हैं, वहां घोषा, लोपामुद्रा और विश्ववारा आदि स्त्रियों का नाम भी चमकते हुवे अक्षरों में लिखा पाते हैं। शास्त्रार्थ, युद्ध, यात्रा और उत्सवों में न केवल स्त्रियां सम्मिलित होती थीं, किन्तु महत्व पूर्ण भाग लेती थीं, इसके शतशः प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में हमारा कोई धार्मिक और सामाजिक कृत्य ऐसा नहीं था, जो स्त्रियों के बिना केवल पुरुषों से किया जाता हो। चारों आश्रमों में पुरुषों के समान ही इनका अधिकार था। ये ब्रह्मचारिणी होकर गार्गी और सुलभा के सदृश

स्वाध्याय में अपना जीवन व्यतीत करती थीं और गृहस्थाश्रम की तो अधिष्ठात्री देवी ही मानी जाती थीं। वानप्रस्थ में जाकर पुरुषों के सम्बन्ध से नहीं किन्तु अपनी योग्यता से ऋषिका ( १ ) और आचार्या ( २ ) बनती थीं। विरक्त होकर मोक्ष धर्म में अभिनीत होनेका इनको भी वैसा ही अधिकार ( ३ ) था, जैसा कि पुरुषों को। बौद्धकाल में भी इस देश की स्त्रियों के ये अधिकार अक्षुण्ण थे। निदान मानव जीवन के उपयोगी किसी अंश में भी भारतीय महिलायें पुरुषों के पीछे नहीं रहती थीं।

## स्त्री जाति का महत्त्व।

हमारे लिये यह कितने गौरव का स्थान है कि सबसे पहले इस संसार में स्त्री जाति के महत्व को हमारे पूर्वजों के मस्तिष्क ने ही अनुभव किया। शक्तिरूप से ईश्वर की पूजा यदि किसी धर्म में पाईजाती है, तो वह हिन्दूधर्म ही है। हिन्दू धर्म की पुस्तकों में ईश्वर की इस शक्ति का वर्णन भिन्न भिन्न रीति से पाया जाता है। कहीं प्रकृति, कहीं माया, कहीं जननी और कहीं जाया के अर्थगौरव युक्त नामों से इसी जगद्धात्री आद्या शक्ति का परिचय दिया गया है। संसार में केवल हिन्दू धर्म ही है जो सृष्टि से पहले अज और अजा ( प्रकृति और पुरुष ) दोनों की सत्ता को मानता है। ईसाइयों की इञ्जील में लिखा है कि "आरम्भ में ईश्वर ने हज़रत 'आदम' को उत्पन्न किया, जब 'आदम' को स्त्री की आवश्यकता हुई तो उसने अपनी पसली की हड्डी से "हव्वा" को बनाया।" परन्तु

( १ ) देखो सायणकृत ऋग्वेद भाष्य की अनुक्रमणिका।
( २ ) देखो सिद्धान्त कौमुदी ४-१-४९ सूत्र की व्याख्या।
( ३ ) देखो महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३२१।

भारत का सबसे पहला दार्शनिक कपिल प्रकृति और पुरुष से सृष्टि का होना मानता है। मनु भी अपनी स्मृति में यही कहता है कि ब्रह्मा ने अपने देह के दो भाग किए आधे से स्त्री और आधे से पुरुष बना, तब यह सृष्टि उत्पन्न हुई।

इटली का प्रसिद्ध संशोधक जोज़ेफ़ मेज़िनी अपनी पुस्तक "मनुष्य के कर्त्तव्य" में लिखता है "ईसाइयों की वर्त्तमान इञ्जील सर्गारम्भ में केवल पुरुष का उत्पन्न होना बतलाती है, परन्तु आगामी काल की इञ्जील स्त्री को भी सृष्टि के उत्पादन में पुरुष के बराबर ही भाग देगी।" बेचारे मेज़िनी को भारत की इन्जील का पता न था, अन्यथा वह आगामी के स्थान में भूतकाल का संकेत करता।

संसार में तीन बल प्रसिद्ध हैं, धनबल, बाहुबल और विद्याबल। ये ही तीनबल मनुष्य जन्म की सफलता का कारण हैं। हिन्दूधर्म में इन तीनों बलों की अधिष्ठात्री देवता स्त्री को माना गया है। धनकामुक हिन्दू लक्ष्मी की, बलप्रार्थी शक्ति की और विद्यार्थी हिन्दू सरस्वती की आराधना करते हैं। पाठक! जिन लोगों ने मानव जीवन के सर्वस्व इन तीनों बलों को अधिष्ठात्री स्त्री को बनाया, उनकी दृष्टि में उसका कितना मान और गौरव था, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है। प्राचीन स्त्रियों का हिन्दू समाज में क्या स्थान था? इसके हम यहां पर केवल दो ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, जो कि बृहदारण्यक उपनिषद् से सम्बन्ध रखते हैं। पहला याज्ञवल्क्य और उसकी स्त्री मैत्रेयी का संवाद है। दूसरा जनक की सभा में गार्गी वाचक्नवी का याज्ञवल्क्य के मान की रक्षा करना है।

जब याज्ञवल्क्य वानप्रस्थ आश्रम में जारहे थे, तब उन्होंने अपनी प्रियपत्नी मैत्रेयी से कहा। "मैत्रेयी! मैं घर छोड़कर

जा रहा हूं, मेरी इच्छा है कि अपनी सम्पत्ति का विभाग तुझ में और कात्यायनी में करजाऊँ, जिससे पीछे कोई झगड़ा न उठे।" इसपर मैत्रेयी ने कहा। "भगवन्! यदि यह धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी होती तो क्या मैं उससे अमर होजाती?" याज्ञवल्क्य ने कहा। "नहीं, तेरा जीवन वैसा ही होता, जैसा कि धनवानों का होता है. धन से अमर होने की आशा नहीं।" तब मैत्रेयी ने कहा। "मैं उस वस्तु को लेकर क्या करूँ? जिससे कि मैं अमर नहीं हो सकती। अमृतत्व के विषय में आप जो कुछ जानते हैं, मुझसे कहिये।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा। "मैत्रेयि! तू प्रिय वचन कहती है, आ यहाँ पर बैठ और जो कुछ मैं कहता हूं, उसे ध्यान लगाकर सुन।"

(बृहदारण्यक अध्याय २ ब्राह्मण ४)

तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उस अध्यात्मतत्व का उपदेश किया, जिसके जानने से मनुष्य जीवन्मुक्त होजाता है। आज कल की स्त्रियों के समान पूर्वकाल की स्त्रियाँ धन और आभूषणों पर नहीं मरती थीं, किन्तु उनके जीवन का उद्देश विद्या और मुक्ति थी, इसका यह कैसा अच्छा उदाहरण है।

दूसरा उदाहरण गार्गी वाचक्नवी का है। विदेह के राजा जनक ने एक बड़ा यज्ञ किया, उसमें ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी गई। उस यज्ञ में कुरु और पञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण आये थे। राजा जनक ने यह जानना चाहा कि इनमें सबसे बड़ा विद्वान् कौन है? अतएव उसने एकहजार गायों को उनके सींगों में दस दस सुवर्ण के पदक बाँधकर रोका और उन ब्राह्मणों से कहा कि आप लोगों में जो सबसे बड़ा विद्वान् हो, वह इन गायों को हाँक लेजावे। यह सुनकर ब्राह्मण एक दूसरे की ओर देखने लगे! याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से

कहा कि वह इन गायों को हाँककर ले जावे। गुरु की आज्ञानुसार शिष्य उन गायों को हाँककर ले गया। याज्ञवल्क्य का यह घमण्ड देखकर ब्राह्मण कुपित हुये और वे उससे कठिन एवं जटिल प्रश्नपर प्रश्न करने लगे। याज्ञवल्क्य को जब उनका उत्तर देते देते पसीना आगया, तब यकायक उससभा में एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और उसने ब्राह्मणों की अनुमति लेकर याज्ञवल्क्य से कहाः—

"जैसे किसी काशी या विदेह के योद्धा का पुत्र अपने धनुष् को खींचकर दो नोकीले बाणों से अपने शत्रु को बींधना चाहता है, वैसे ही मैं दो प्रश्नों को लेकर तुमसे लड़ने के लिये उपस्थित हुई हूं।"

पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह व्यक्ति एक स्त्रीथी, जिसका नाम गार्गी वाचक्नवी था। ये दोनों प्रश्न किये गये और इनका उत्तर जब याज्ञवल्क्य देचुके, तब गार्गी ने ब्राह्मणों से कहाकि "आप लोग नमस्कार करके याज्ञवल्क्य से अपना पीछा छुड़ायें' इसको जीतने का सामर्थ्य आप लोगों में नहीं है, ब्राह्मण चुप होगये।" ( बृहदारण्यक अ० ३ ब्रा० ८ )

इन और ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का जो स्थान था, वह हम को संसार की किसी भी प्राचीन जाति के इतिहास में नहीं मिलता। इसके पश्चात् मध्यकाल में भी जब इनके लिए कुछ २ सामाजिक बन्धनों का सूत्रपात होचुका था बहुत सी स्त्रियों ने अपनी असाधारण योग्यता का परिचय दिया है। उनमें से भी यहाँ दोही उदाहरण पर्याप्त होंगे। पहला मण्डन मिश्र की स्त्री भारती का, जिसने शङ्कर और मण्डन के शास्त्रार्थ में नकेवल मध्यस्थता की किन्तु पति के परास्त होजाने पर

शङ्कर से शास्त्रार्थ भी किया और इस प्रकार अपने पति को शङ्कर के बन्धन से मुक्त किया। ( १ )

दूसरा उदाहरण विदुषी विद्याधरी का है, जिसका विवाह धूर्त्त पण्डितों ने ( जिनका उसने तिरस्कार किया था ) छल से महामूर्ख कालिदास के साथ (जो उसी शाखा को काट रहा था, जिसपर बैठा हुआ था ) करादिया। इस विदुषी स्त्री ने "अस्ति कश्चित् वाग्विभवः ?" इस एक ही प्रश्न से कालिदास को ऐसा महापण्डित और महाकवि बना दिया कि वह प्रश्नात्मक वाक्य के एक २ शब्द से एक २ महाकाव्य बनाने में समर्थ हुवा। अर्थात् 'अस्ति' से कुमारसम्भव, 'कश्चिद्' से मेघदूत और 'वाग्' से रघुवंश। ( २ )

## विकास का विपरीत परिणाम।

संसार के समस्त देशों का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि आरम्भ में सर्वत्र ही बल का प्राधान्य था। जो जातियाँ इस बीसवीं शताब्दी में अपने ही देश में नहीं, किन्तु सर्वत्र न्याय की प्रतिष्ठा करना चाहती हैं, सभ्यता के आरम्भ में वे अपने ही निर्बल अङ्गों के साथ अन्याय करती थीं। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों त्यों उनका निर्बलों पर अत्याचार भी कम होता गया और साम्यवाद की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। पर यह कैसे आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष का इतिहास बिलकुल इसके विपरीत आदर्श हमारे सामने उपस्थित करता है। यहाँ ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, त्यों त्यों उसका उपयोग निर्बलों को दबाने और उनके

( १ ) देखो शङ्करदिग्विजय अध्याय ८-९

( २ ) देखो मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना।

प्राकृतिक स्वत्वों को कुचलनेमें कियागया। बलवान् निर्बलों पर अत्याचार करने लगे और उनको ऐसे कठोर और भीषण धार्मिक तथा सामाजिक नियमोंमें जकड़ दियागया कि वे जीते जी कभी उनसे छुटकारा न पासकें, इसको हम विकास कहें या ह्रास ?

अब प्रश्न यह होता है कि सारे संसार के विरुद्ध भारत में ही सभ्यता का यह विषम परिणाम क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। स्वतन्त्रता का मूल्य स्वतन्त्र जाति ही जान सकती है। जबतक आर्य जाति स्वतन्त्र रही, प्राण से भी अधिक स्वतन्त्रता को प्यार करती रही और जब उसने ख़ुद दूसरों से दब कर या सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर परतन्त्रता की बेड़ी अपने पावों में डालली, तब वह कब हो सकता था कि वह दूसरों की स्वतन्त्रताका मूल्य समझ सकती। जो अन्याय से डरकर बलवानों के सामने सिर झुका देता है, वह कभी निर्बलों के साथ न्याय नहीं करसकता जो अपनी स्वतन्त्रता को कौड़ियों के मोल में दूसरों के हाथ बेच देता है, वह दूसरों की स्वतन्त्रता छीनने में कुछ भी आगा पीछा नहीं सोचता। भारतवासी जब अपनी स्वतन्त्रता खोचुके, तब क्रमशः उस परतन्त्रता का प्रभाव उनके धर्म और समाज पर भी पड़ने लगा क्योंकि किसी परतन्त्र जाति का धर्म या समाज कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकता।

स्वतन्त्रता के युग में जिस जाति ने कुछ शताब्दियों में ही अपनी सभ्यता और प्रतिभा का वह चमत्कार दिखाया था कि उपनिषद् जैसी गूढ़ विद्या ( जिस का आज संसार के समस्त ईश्वरवादी आदर ही नहीं किन्तु अनुकरण भी कररहे हैं ) यहाँ प्रतिष्ठित होकर कपिल जैसे दार्शनिक, पाणिनि जैसे

वैयाकरण और गोतम बुद्ध जैसे संशोधक उत्पन्न हुवे, जिन के मस्तिष्क और हृदय की प्रशंसा आज सारे संसार में होरही है। परतन्त्र होकर उसी जाति की ऐसी काया पलट गई कि वह अपनी सारी योग्यता और उस बढ़ी हुई सभ्यता का उपयोग अपने निर्बल अङ्गों को दबाने और सताने में तथा जाति भेद को अप्राकृतिक रूप से बढ़ाने में करने लगी। इसी मध्यवर्ती समय में जिस को हम आर्य्यों की अवनति का युग कहते हैं, यहाँ बालविवाह सतीदाह और पर्दे आदि की प्रथायें प्रचलित हुईं और स्त्रियों को संपूर्ण मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित करके अपनी क्रीड़ा की सामग्री बनायागया।

## अराजकता का समाज पर प्रभाव।

उस समय की सारे देश में फैली हुई अराजकता का भी हिन्दू समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। शहाबुद्दीन ग़ोरी से लेकर महम्मद शाह तक अर्थात् दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक लगभग नौ सौ वर्ष के लम्बे समय में भारत में जैसी अराजकता और उसके कारण घोर अशान्ति मचीरही, उसको आज हम बृटिश शासन की छत्रछाया में शान्ति और स्वच्छन्दता का सुख भोगते हुवे अनुभव करने में भी असमर्थ होगये हैं। इस बीचमें कितने चंगेज़ख़ाँ, तैमूरलंग और नादिरशाह जैसे भयानक लुटेरे इस देशमें आये और उन्होंने क्या २ उत्पात और अत्याचार किये। तथा कितने अलाउद्दीन, महम्मदशाह और औरंगज़ेब जैसे परधर्मविद्वेषी राजा भारत के सिंहासन पर आसीन हुवे और उनके कारण हिन्दूधर्म और हिन्दूसमाज की कैसी दुर्गति और दुर्दशा हुई, यह किसी इतिहासपाठक से छिपा नहीं है। ऐसे विपत्ति के समय में यदि

हिन्दूधर्म की मर्यादा और हिन्दूसमाज की व्यवस्था अक्षुण्ण न रहसकी और उसमें समयानुसार बहुत से परिवर्तन और अपवाद हुवे तो इसके लिए न्यायतः हिन्दूसमाज दोषी नहीं ठहराया जासकता। उस आपत्ति के समय में जबकि हमलोगों के प्राण और धर्म दोनों ही संकट में थे, सबसे पहले हमको चिन्ता अपनी स्त्रियों और बच्चों की हुई और यह स्वाभाविक बात है, पशुपक्षी भी जब उनपर आक्रमण किया जाता है तो पहले अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करते हैं। यही कारण है कि उस समय के बने या सङ्कलित हुवे ग्रन्थों में इनकी रक्षा पर ही विशेष बल दियागया है और उसके लिए इनकी शिक्षा और स्वतन्त्रता भी (जिनसे भारत की प्राचीन सभ्यता पद २ पर आलोकित होरही है) उनकी दृष्टि में खटकने लगीं।

उस भयानक स्थिति में उनको यह भय हुवा कि कहीं इनकी योग्यता और स्वतन्त्रता ही इनके और हमारे वियोग का कारण न हो और यह भय उनका निर्मूल नथा, क्योंकि अच्छी वस्तु को सभी चाहते हैं। अतएव उसी कराल समय में "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" तथा "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नव वर्षा च रोहिणी" इत्यादि वाक्यों की सृष्टि हुई और स्त्रियाँ भी अन्य भौतिक संपत्ति की भान्ति एक गोपनीय और रक्षणीय वस्तु मानी जाने लगीं। उस आपत्काल में युवावस्था तक पुत्रियों का कुमारी रहना, विद्यालयों में जाकर विद्याध्ययन करना और स्वतन्त्रता पूर्वक समाज में आना जाना, ये सब बातें इनके संरक्षकों और हितचिन्तकों को अपने स्वार्थ के लिए नहीं, किन्तु इन्हीं के हित के लिए खटकीं। इस दशामें यदि इनकी स्वतन्त्रता छीनीगई, तथा बालविवाह और सतीदाह जैसी दुष्ट प्रथाओं का भी हिन्दुओं को आश्रय लेना पड़ा

तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आश्चर्य और शोक तो हमारी बुद्धिपर है कि हमने तात्कालिक आपद्धर्म को साधारण धर्म मानलिया और अब उन कारणों के न होते हुवे भी हम इनको उस गिरी हुई दशासे (जिसमें पड़ी हुई ये न खुद संसार का भार बन रही हैं, किन्तु हमारे जीवन का शूल भी बनरही हैं) उठाने का यत्न नहीं करते और लकीर पर फ़क़ीर बने बैठे हैं।

यद्यपि इस मध्यकालिक हिन्दू सभ्यता में भी कोई कोई स्मृतिकार ऐसे सहृदय और दयाशील हुवे हैं, जिन्होंने इस दीन अबलाजाति पर अपनी दया और सानुभूति का परिचय दिखाया है। अर्थात् हम उन्हीं ग्रन्थों में जिनसे इनके गलों में छुरी फेरी जाती हैं, कहीं कहीं पर ऐसे वचन पाते हैं जिनसे इनके घावों की कुछ मरहम पट्टी कीगई है। तथापि उनग्रन्थों की बागडोर जिन लोगों के हाथ में है और जो शास्त्र को भी रूढिवाद का पुंछल्ला बनाना चाहते हैं, वे खींच तान कर और तोड़ मरोड़ कर उनका सामञ्जस्य भी उन निष्ठुर वाक्यों से जिनमें सहृदयता और सानुभूति का गन्ध भी नहीं है) करने लगते हैं। जहां इसमें उनको सफलता नहीं होती, वहां कलियुग का पचड़ा लगादिया जाता है। जब उन ग्रन्थों से भी जो उन्हीं के मतानुसार कलिधर्म का निरूपण करते हैं, उनके आक्षेपों का निरसन किया जाता है, तब "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्" कहकर लोकाचार की आड़ लीजाती है और यह उनका अन्तिम शस्त्र है, जिसके सामने सारे शास्त्र, विवेक, विद्या, युक्ति, तर्क, दया, क्षमा, वत्सलता, सहृदयता और सानुभूति ये सब मानुषिक गुण कुण्ठित और विकृत होजाते हैं।

## एक और परिवर्तन का कारण।

इतिहास हमको बतला रहा है कि हिन्दूसमाज में इस परिवर्तन का कारण एक दूसरी सभ्यता का संसर्ग भीहै, जो मुसलमानों के साथ यहाँ आई। बौद्धों की सभ्यता यहीं की सभ्यता थी, इसलिए उसके संयोगसे इसमें सिवाय कुछ कुछ धार्मिक संशोधनों के विशेष परिवर्तन नहीं हुवा था। पर मुसलमानों की सभ्यता (चाहे पीछे से परस्पर संसर्ग के कारण वह बहुतसी बातों में इस से मिलजुल गई हो) आरम्भ में यहाँ के लिए एक अजनबी सभ्यता थी और उसने बलपूर्वक यहाँ अपना अधिकार जमाया था, इसलिए उसके आतङ्क और भय से इस देशकी सभ्यता ने कुछ और ही रूप धारण करलिया। बाल विवाह, परदे की प्रथा, सतीदाह और कहीं कहीं पुत्रीवध जैसी भयानक रीतियाँ भी उस भय के कारण यहां प्रचलित होगई। विजेता मुसलमानोंकी दृष्टि अपने धर्मके आदेशानुसार हिन्दुओं की कुमारी कन्याओं और विधवाओं पर ही विशेष थी। इसलिए उस समय कन्याओं की धर्मरक्षा के लिए बालविवाह जैसी जातिनाशक प्रथा का और विधवाओं की धर्मरक्षा के के लिए सतीदाह जैसी अमानुषिक प्रथा का भी हिन्दुओं को आश्रय लेना पड़ा, फिर समय पाकर येही प्रथायें हिन्दुओं के धर्म का अङ्ग बनगईं। पुनः ईश्वरीय प्रेरणा से जब इस देशमें न्यायी बृटिश शासन की स्थापना हुई, तब शान्ति और व्यवस्था के प्रतिष्ठित होने से वह भय और आतङ्क जो जातारहा, पर ये प्रथायें धर्मका सहारा पाकर हिन्दू समाज में रूढ़ होगईं इन में से सतीदाह और पुत्रीवध की महाजघन्य रीतियों को तो हमारी हृदयवती सरकार ने लोकमत के विरुद्ध होने पर भी क़ानून के ज़ोर से रोक दिया, पर बालविवाह, वृद्धविवाह

और बहुविवाह की निर्लज्ज प्रथायें अबतक हिन्दू समाज का गला मसोस रहीं हैं। भारत में एक करोड़ के लगभग बालविधवायें इसी तिगड्डे के कारण हिन्दू समाज का मुख उज्वल कररही हैं।

## बालविधवाओं की शोचनीय दशा।

सन् १९२१ की मनुष्य गणना के अनुसार इस देश में ६० लाख से ऊपर बालविधवायें हैं, यदि इनमें युवती भी शामिल करदी जाँय तो इनकी संख्या १॥ करोड़ से भी ऊपर पहुंचती है। ये हमारी पुत्रियाँ और भगिनियाँ इस प्रलोभनमय संसार में जैसा नैराश्य पूर्ण और सन्देहात्मक जीवन व्यतीत कर रही हैं, उसका यहाँ पर चित्र खींच कर हम पाठकों के हृदय में ठेस लगाना नहीं चाहते। परमेश्वर ने जिनको हृदय दिया है, वे स्वयं उसका अनुभव करते होंगे। संसार के जिस आमोद और प्रमोद के लिए हमारे देशके पचास २ और साठ २ वर्ष के धर्मधुरीण वृद्ध भी ( जिनके मुंह में दान्त और पेट में आन्त तक नहीं ) लार टपकाते हैं, ये दस २ और बारह २ वर्ष की अबोध कन्यायें, जिनके अभी दूधके दान्त तक नहीं टूटे, उसके अयोग्य सिद्ध की जाती हैं। जिस काम के वेग को विश्वामित्र और पराशर जैसे तपस्वी महर्षि भी दमन नहीं करसके, उसका मुक़ाबला करने के लिए हमारे वीर सेनापति आप मैदान छोड़कर इन अबलाओं की सेना खड़ी कररहे हैं।

ब्रह्मचर्य का हमारे पूर्वजों ने बहुत कुछ माहात्म्य वर्णन किया है और आजकल का शिक्षित वर्ग भी उसपर आवश्यकता से अधिक बल देता है। हम भी ब्रह्मचर्य को यदि वह स्वेच्छापूर्वक धारण किया जाय तो स्त्री पुरुष दोनों के लिए

अच्छा समझते हैं। परन्तु कोई वस्तु चाहे कैसी ही अच्छी क्यों न हो, बलपूर्वक या दबाव डालकर उसको किसी के गले का हार बनाना हमारी सम्मति में उस वस्तु के महत्व को कम करना है। फिर यह कैसा अन्धेर है कि इस ब्रह्मचर्य की आवश्यकता उन पुरुषों के लिए जो अपनी संसारयात्रा समाप्त करचुके हैं, उतनी नहीं समझीजाती, जितनी उन अबोध बाल विधवाओं के लिए, जिनकी संसारयात्रा अभी आरम्भ भी नहीं हुई है, मानी जाती है। ६० वर्ष का बूढ़ा खूसट, जिसपर मौत हँस रही है, ब्रह्मचर्य के अयोग्य समझा जाय और १० वर्ष की बालविधवा, जिसपर मौत भी आंसू बहा रही है, आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए बाधित कीजाय। जिस देश या समाज में यह अन्धेर और अन्याय प्रचलित हो और वहभी धर्म के नाम से, उसकी जितनी अवनति और अधोगति हो थोड़ी है।

अपने जीवन को व्यर्थ समझकर और अपने दुःखों की इस जन्म में निष्कृति न देखकर पहले ये सती होजाती थीं और इस प्रकार उस प्राणशोषक रोग से जो आजीवन इनको जलाता था, छुटकारा पाती थीं। संसार में और तो कोई इनको अधिकार न था, ले देकर एक मरने का अधिकार था, सो वह हमारी दयावती सरकार ने छीन लिया। अब सिवाय जन्मभर चिन्तानल में जलने के और इनका क्या काम रह गया ? परन्तु यह चिन्तानल चितानल से कहीं अधिक भयंकर है, जैसाकि किसीने कहा है:—

चिता चिन्ता द्वयोर्मध्ये चिन्ता चैव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता नित्यं सजीवकम्॥

इस विषय में सरकार को दोष देना सर्वथा अनुचित है,

कोई भी हृदयवती सरकार ऐसे भीषण काण्ड को, जिसमें जीवित व्यक्ति को निर्दयता के साथ (चाहे उसकी इच्छानुसार ही क्यों न हो) अग्नि में जलाया जावे, अपनी आँखों से नहीं देख सकती। इसके अतिरिक्त चाहे दुःखी हो वा सुखी, प्रजाजन की प्राणरक्षा करना सरकार का कर्त्तव्य है। अतएव सरकार ने सतीदाह जैसी अमानुषिक प्रथा को बन्द करके अपने कर्त्तव्य का ही पालन किया है। हां यदि वह इस प्रथा को रोककर विधवाविवाह का क़ानून पास न करती, तब तो उसपर यह दोष लगाया जा सकता था कि क्या उसने इनको जन्मभर चिन्तानल में जलाने के लिये ही चितानल से बचाया था? सतीदाह की प्रथा को बंद करने के बाद यह कब सम्भव था कि हमारी दूरदर्शिनी सरकार अपने इस आवश्यक कर्त्तव्य की उपेक्षा करती। अतएव उसने लोकमत के विरुद्ध होने पर भी सन् १८५६ ई० में विधवाविवाह एक्ट् १५ पास करदिया। सरकार इस विषय में पूर्णतया अपना कर्त्तव्य पालन करचुकी क़ानून के होते हुवेभी विधवाओं की वर्त्तमान दशा का दायित्व हम पर है।

## विधवाओं के प्रति शिक्षितों का कर्त्तव्य।

अब प्रश्न यह होता है कि जो हिन्दू स्वभाव से ही दयाशील हैं, जिनसे मनुष्य तो मनुष्य, पशु पक्षियों का भी कष्ट देखा नहीं जाता, उनका हृदय अपनी पुत्रियों और भगिनियों के इस अथाह दुःख को देखकर भी क्यों नहीं पसीजता और इसके महाअनर्थकारी भयानक परिणामों को जान बूझकर भी वे क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं?

यह बात नहीं है कि हिन्दुओं में ऐसे सहृदय मनुष्य नहीं हुवे या नहीं हैं, जिनकी दृष्टि में वे अमानुषिक अत्याचार जो

विधवाओं पर किये जाते हैं, न खटकते हों या जो वैधव्य के रोमाञ्चकारी परिणामों को अनुभव न करते हों। भारत के प्रत्येक प्रान्त में चोटी के ऐसे हिन्दू विद्वान् हुवे हैं और हैं, जिन्होंने विधवाविवाह के अनुकूल न केवल अपनी सम्मति प्रकट की है, किन्तु इसके प्रचार के लिए यावज्जीवन अनवरत उद्योग और अनथक आन्दोलन भी किया है। सुनामधन्य स्वर्गीय श्रीयुत पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को कौन नहीं जानता, जिन्होंने कट्टर हिन्दू होते हुवे विधवाविवाह को हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया और आजीवन इसका प्रचार करते रहे। इनके आगे पीछे हिन्दूसमाज में और भी अनेक गण्य मान्य पुरुष ऐसे हुवे हैं और हैं, जिन्होंने विधवाविवाह की न केवल वाचिक पुष्टि की है, किन्तु इसका उपयोग करने में भी बहुत कुछ पुरुषार्थ किया है। जिनमें से कुछ प्रसिद्ध पुरुषों का परिचय पाठकों को इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में मिलेगा।

यह सब कुछ होते हुवे भी विधवाविवाह का प्रचार इस देश में बहुत कम हुआ है, साधारण हिन्दू अबतक इसके नाम से चौंकते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि लोग विधवा विवाह को धर्मविरुद्ध समझते हैं। धर्मशास्त्र के रहस्य को समझने वाले हममें बहुत ही कम मनुष्य निकलेंगे। प्रत्येक समाज में अधिकतर संख्या ऐसे ही मनुष्यों की होती है, जो प्रायः प्रचलित लोकाचार का अनुसरण करते हैं, न वे धर्मशास्त्र को जानते हैं और न उनको अपने विवेक पर भरोसा होता है। अन्धे की लाठी के समान लोकाचार ही एक मात्र उनका आधार होता है। जिस समाज में वे रहते हैं और जिन लोगों से रात दिन उनका काम पड़ता है, उनकी रुचि और

मति के विरुद्ध किसी काम के करने का उनमें साहस ही नहीं होता। अतएव विधवाविवाह के अप्रचार का दोष ऐसे लोगों पर नहीं लगाया जा सकता। इस दोष के भागी न्यायतः वे लोग हैं, जो सभाओं में और समाचार पत्रों में विधवाओं की करुणाजनक दशा का हृदयद्रावक चित्र खींचकर आठ२ आँसू रोते और रुलाते हैं और बात २ में न्याय, विवेक और नैतिक बल की दुहाई देते हैं, पर जब परीक्षा का समय आता है, तब वे उन्हीं लोगों से डरकर जिनको पाषाणहृदय कहते थे, चट कुमारी कन्या के साथ अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं। जिस देश के शिक्षित और समर्थ पुरुष नैतिक बल में इतने गिरे हुवे हों, वहाँ सर्वसाधारण से क्या आशा की जा सकती है?

सर्वसाधारण सर्वत्र अनुकरणशील होते हैं, उनकी दृष्टि सदा उदाहरण पर होती है, वे यह नहीं देखते कि हमें कहां जाना है और क्यों जाना है? लोगों को जाता हुवा देखकर वे भी उनके पीछे होलेते हैं। कोई कैसा ही अच्छा काम हो, पर वे उसमें अगुवा बनना नहींचाहते उनको यह उक्ति प्रसिद्ध है।

> न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम्।
> यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते॥

हममें हज़ारों माता पिता ऐसे होंगे जो अपनी विधवा पुत्रियों को देखकर मन ही मन में कुढ़ते हैं और बिरादरी को गालियां सुनाते हैं, पर उनमें इतना साहस और नैतिक बल कहां? जो वे मैदान में आगे बढ़ें और दूसरों के लिये उदाहरण बनकर दिखावें। वे हर बात में दूसरों की ओर देखते हैं और चाहते हैं कि हम पर किसी की उङ्गली न उठे। जब वे बुरे से बुरे उदाहरण का भी अनुकरण करने लगते हैं, तब यह कब सम्भव है कि उनपर अच्छे उदाहरणों का प्रभाव न पड़े।

उनके लिए अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करना यह काम शिक्षित और समर्थ पुरुषों का है। जैसाकि भगवान् गीता में कहते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

प्रत्येक देश में शिक्षित पुरुष ही समाज के लिए आदर्श बने हैं, उन्होंने ही अपनी दृढ़ता, सहिष्णुता और आत्मत्याग से गिरती हुई जातियों को ऊपर उठाया है। पर भारत में प्रथम तो शिक्षितों की संख्या ही बहुत कम है। जो इने गिने शिक्षित हैं, वे वाचिक ज्ञान में तो समाज के स्वयम्भू नेता बनने के लिये तय्यार हैं, पर जब काम करने का समय आता है, तब वे अपने रूढ़िवादी समाज का मुँह ताकते हैं। हम ऐसे कई पुरुषों को जानते हैं कि जो प्रसङ्ग आने पर विधवाविवाह का समर्थन ही नहीं करते थे, किन्तु आवेश में आकर इसके विपक्षियों को खरी खोटी भी सुना डालते थे। पर जब उनको पहली स्त्री का वियोग हुआ, तब उन्होंने उन्हीं लोगों से डर कर जिनको बुरा भला कहते थे, चट कुमारी कन्या के साथ विवाह कर लिया। ऐसे बनावटी मित्र समाज को जितनी हानि पहुंचाते हैं, उतनी उसके प्रकट शत्रु नहीं पहुंचा सकते।

हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि जो लोग अपने समाज को प्रसन्न रखना चाहते हैं, या कमसे कम अपने ऊपर उङ्गली उठवाना नहीं चाहते, वे अपने समाज की इच्छा के विरुद्ध अपने को इस कठिन परीक्षा की जोखम में डालें। यदि किसी विधवा का पाणिग्रहण करने में उनकी सामाजिक मानमर्यादा भङ्ग होती है तो वे ऐसा न करें और न कोई ऐसा करने के लिए उनको बाधित कर सकता है। परन्तु उनको इसका अधिकार क्या है कि वे उन कुमारी कन्याओं को जो उनकी

पुत्री और पौत्री के समान हैं, अपनी पत्नी बनाने का दुःसाहस करें। यदि समाज उनको इस अनर्थ के करने से नहीं रोकता तो कम से कम मनुष्यता के नाते इतना तो उनको अपने विवेक से काम लेना चाहिए कि जिस आधार पर उनकी विधवा बहनें अपना विवाह का स्वत्व खो चुकी हैं, उसी आधार पर वे भी अपना वैवाहिक स्वत्व गंवा चुके हैं। फिर उनकी यह अनधिकार चेष्टा, चाहे उनके पक्षपाती समाज की दृष्टि में क्षन्तव्य हो, पर उस रुद्र और धर्म के कोपानल से, जिसमें पड़कर सैकड़ों अन्यायी और अत्याचारी राज्य तक नष्ट भ्रष्ट हो गए, वे अपने को कैसे बचा सकेंगे?

## लेखक का वक्तव्य।

अस्तु, अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। स्वर्गीय पं० विद्यासागर के समय से लेकर आजतक विधवाविवाह पर बहुत कुछ आन्दोलन और शास्त्रार्थ हो चुके हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि भारत के शिक्षितवर्ग में (चाहे वह किसी धर्म का अनुयायी हो वा नहीं) अब इसका कोई विरोध नहीं करता। यहांतक कि वे लोग भी जो धार्मिक दृष्टि से इसको अच्छा नहीं समझते, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अब इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते जाते हैं। द्विजों में अब इसका प्रचार भी बढ़ता जारहा है। भारत का कोई ऐसा प्रान्त नहीं, जिसमें प्रतिवर्ष सैकड़ों की संख्या में विधवाविवाह न होते हों। पंजाब की सिक्ख और खत्री जातियों ने तो अपनी जातीय सभाओं में बहुमत से इसको स्वीकार कर लिया है। अन्य जातियों में भी अब कोई शिक्षित और समझदार लोग इसका विरोध नहीं करते, किन्तु अवसर पड़ने पर अपनी आंतरिक सहानुभूति प्रकट करते हैं। विरोध करने वाले प्रायः

ऐसेही लोग हैं, जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का गला काटने में पाप नहीं समझते या जो स्वयं अपने विवेक से काम न लेकर दूसरों के हाथ का औजार बनेहुवे हैं।

यद्यपि इस कहावत के अनुसार कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" यह प्रस्ताव स्वयंमेव लोगों के हृदय में अपना उचित स्थान बना रहा है और उनकी सहानुभूति अपनी ओर खींच रहाहै। तथापि इसके विरोधियों ने धर्मशास्त्र या लोकाचार की आड़ लेकर जो भ्रान्ति सर्वसाधारणमें फैलाई हुई है और जिस प्रकार खींचतान कर वे अर्थ का अनर्थ करते हैं। तथा उनकी ओरसे जो २ निर्मूल आक्षेप और निःसार कल्पनायें इसके विरुद्ध की जाती हैं, उनका निरसन करने के लिए अबतक हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुवा, जिसमें कम से कम विवादास्पद विषयों की संक्षेप से ही आलोचना कीगई हो। विद्यासागर ने जो इस विषय की विस्तृत और पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की है, वह बंगभाषा में है, जिससे हिन्दी भाषी कुछ लाभ नहीं उठासकते। उसीके आधार पर अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं में भी कई निबन्ध और पुस्तकें प्रकाशित हुईहैं, पर खेद का स्थान है कि हिन्दी भाषा का साहित्य (जो हमारी राष्ट्रभाषा बनने वाली है) अबतक ऐसे आवश्यक विषय से शून्य है। इस अभाव को किसी अंशतक दूर करने के लिए ही मेरा यह प्रयास और साहस है कि मैं इस पुस्तक को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूं।

ऐसी पुस्तक के संग्रह करने में किसी बहुश्रुत लेखक की आवश्यकता थी, जो अपने दीर्घकालिक अनुभव और अनुसन्धान से इसको सर्वाङ्गसंपन्न बनाने में समर्थ होता। पर जब हिन्दी के दौर्भाग्य से इसमें और भाषाओं की अपेक्षा विद्वान्

लेखक ही कम हैं, जो हैं भी वे धार्मिक और सामाजिक विषयों को विवादास्पद समझकर इनसे उदासीन रहते हैं। इस दशामें " अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः " इस जनश्रुति के अनुसार यदि मुझ जैसा अल्पश्रुत लेखक ऐसे गहन विषय में लेखिनी उठाने का साहस करता है, तो उसका यह अपराध महानुभावों की दृष्टि में क्षम्य होना चाहिये। आशा है कि विवेकशील पाठक लेखक की त्रुटियों पर ध्यान न देकर उसके भाव और पुस्तक के उद्देश को अपना लक्ष्य बनायेंगे।

हिन्दू बालविधवाओं का उस शोचनीय दशा से, जिसमें पड़ी हुई वे नकेवल स्वयं नैराश्यमय और सन्देहात्मक जीवन व्यतीत कररही हैं, किन्तु अपने समाज और सम्बन्धियों के जीवन का शूल भी बनरही हैं, उद्धार करना और उनके जीवन को सार्थक और समाज के लिए उपयोगी बनाना, बस यही इस पुस्तक का उद्देश है। यदि हिन्दू दया का स्रोत जो पशु पक्षियों के लिए भी बन्द नहीं है, कुछभी इनके मानसताप को शान्त करेगा और इनके शुष्क हृदय क्षेत्रों को अपने स्नेह जल से सींच कर उनमें आशाके अंकुर उत्पन्न करेगा तो मैं अपने को सफल मनोरथ समझूँगा।

मैंने इस पुस्तक को चार अध्यायों में विभक्त किया है, अन्तमें एक परिशिष्ट भी दियागया है, जिनके विषयों की सूची अनुक्रमणिका में दीगई है। यहांपर सधन्यवाद उन ग्रन्थों की सूची दीजाती है, जिनके प्रमाण इस पुस्तक में यथास्थान संग्रहीत हुवे हैं, या जिनसे इसकी रचना में अपेक्षित सहायता लीगईहै,जिसके लिए मैं उनके प्रणेताओं और प्रकाशकोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

मुरादाबाद बदरीदत्त जोशी

# ग्रन्थ-सूची ।

## जिनसे इस पुस्तक के प्रणयन में सहायता लीगई है

| संख्या | नाम ग्रन्थ | प्रणेता या भाष्यकार |
|---|---|---|
| १ | ऋग्वेद | सायनाचार्य |
| २ | अथर्ववेद | ,, |
| ३ | ऐतरेय ब्राह्मण | ,, |
| ४ | तैत्तिरीय संहिता | ,, |
| ५ | शुक्ल यजुर्वेद | महीधराचार्य |
| ६ | बृहदारण्यक उप० | शंकराचार्य |
| ७ | भगवद्गीता | ,, |
| ८ | पूर्वमीमांसा | जैमिनि |
| ९ | अष्टाध्यायी | पाणिनि |
| १० | महाभाष्य | पतञ्जलि |
| ११ | सिद्धान्तकौमुदी | भट्टोजिदीक्षित |
| १२ | निरुक्त | यास्काचार्य |
| १३ | मनुसंहिता | भाष्यषट्क |
| १४ | नारदसंहिता | नारद |
| १५ | वसिष्ठसंहिता | वसिष्ठ |
| १६ | याज्ञवल्क्यस्मृति | मिताक्षरा |
| १७ | पराशरस्मृति | माधवाचार्य |
| १८ | चतुर्विंशतिस्मृतिव्याख्या | भट्टोजिदीक्षित |
| १९ | स्मृतितत्व | रघुनन्दन भट्टाचार्य |
| २० | वीरमित्रोदय | मित्र मिश्र |
| २१ | बृहन्नारदीयपुराण | द्वैपायन |

| संख्या | नाम ग्रन्थ | प्रणेता या भाष्यकार |
|---|---|---|
| २२ | अग्निपुराण | द्वैपायन |
| २३ | ब्रह्मपुराण | ,, |
| २४ | पद्मपुराण | ,, |
| २५ | महाभारत आदिपर्व | नीलकण्ठ |
| २६ | ,, वनपर्व | ,, |
| २७ | ,, भीष्मपर्व | ,, |
| २८ | ,, शान्तिपर्व | ,, |
| २९ | महानिर्वाणतन्त्र | तन्त्रशास्त्र |
| ३० | सारसंग्रह | मन्त्रशास्त्र |
| ३१ | गृह्यसूत्र | गोभिल |
| ३२ | व्यवहारमयूख | नीलकण्ठ भट्ट |
| ३३ | विवादचन्द्र | मश्रु मिश्र |
| ३४ | विवादचिन्तामणि | वाचस्पति मिश्र |
| ३५ | केशव वैजयन्ती | नन्द पण्डित |
| ३६ | शिवार्चनचन्द्रिका | श्रीनिवास |
| ३७ | शङ्करदिग्विजय | पद्यात्मक |
| ३८ | अमरकोश | अमरसिंह |
| ३९ | रघुवंश | कालिदास |
| ४० | कुमारसम्भव | ,, |
| ४१ | मालविकाग्निमित्र | ,, |
| ४२ | अभिज्ञान शाकुन्तल | ,, |
| ४३ | कथा सरित्सागर | सोमदेव |
| ४४ | मृच्छकटिकनाटक | शूद्रक |
| ४५ | भर्तृहरि शतक | भर्तृहरि |
| ४६ | हितोपदेश | विष्णुशर्मा |

| संख्या | नाम ग्रंथ | प्रणेता या भाष्यकार |
|---|---|---|
| ४७ | राजतरंगिणी | कल्हणमिश्र |
| ४८ | चाणक्य नीति | चाणक्य |
| ४९ | भामनीविलास | पं० जगन्नाथ |
| ५० | जनरल जुलाई १८३५ | एशियाटिक सो० बंगाल |
| ५१ | ,, नोवेम्बर १८३६ | ,, |
| ५२ | टगोर ला लेक्चर्स १८७८ | सर गुरुदास बनर्जी |
| ५३ | विधवाविवाह एक्ट १५ सन् १८५६ | भा०गवर्नमेंट |
| ५४ | सत्यार्थ प्रकाश | स्वामी दयानन्द |
| ५५ | सत्यामृत प्रवाह | पं०श्रद्धाराम फुल्लौरी |
| ५६ | बंकिम निबन्धावली | बंकिमचन्द्र चटर्जी |
| ५७ | भारत की प्राचीनसभ्यता | सर रमेशचन्द्र दत्त |
| ५८ | भारतीय प्रतिनिधि | सर०टी०मुथू स्वामी आयर |
| ५९ | सनातन धर्म | डाक्टर मुकन्दलाल |
| ६० | विधवा विवाह | डाक्टर मुरारीलाल |
| ६१ | टाड राजस्थान का सार | बा० शिवव्रतलाल |
| ६२ | विधवाविवाहविवरण | पं०राधाचरण गोस्वामी |
| ६३ | विधवापुनःसंस्कार | पं० शङ्करलाल श्रोत्रिय |
| ६४ | गोपाल सिद्धान्त | गोपाल शास्त्री |
| ६५ | देशदर्शन | ठाकुर शिवनन्दनसिंह |
| ६६ | चीप्स फ्राम जर्मन वर्कशाप | प्रोफेसर मैक्समूलर |
| ६७ | मैन आन हिन्दूला | मिस्टर जानदी मैन |

—:+:—

# विधवोद्वाहमीमांसा ।

## पहला अध्याय ।

## धर्मशास्त्र और विधवाविवाह ।

### समाज और धर्मशास्त्र ।

पूर्व इसके कि विधवाविवाह की सिद्धि में धर्मशास्त्र के प्रमाणों का संग्रह किया जावे, यह जतला देना आवश्यक है कि धर्मशास्त्र किसको कहते हैं और उसका समाज से क्या सम्बन्ध है ? प्रत्येक जाति का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि उसमें जब समाज संगठन की योग्यता उत्पन्न हुई तभी शास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुवा , जब बहुत से मनुष्य मिलकर कोई समाज बनाते हैं, तब परस्पर व्यवहार चलाने के लिए उनको किन्हीं नियमों की आवश्यकता होती है, ये नियम ही विधि निषेध के रूप में धर्मशास्त्र बन आते हैं । जो कि समय की गति उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ रही है, तथा परिणामवाद विकास के सिद्धान्त को सदा से ही प्रश्रय देता चला आया है, अतएव किसी भी समाज की दशा सदा एक सी नहीं रहती। उसमें यथासमय बहुत से परिवर्तन और कभी २ तो क्रान्ति होती रहती है. अतः उन नियमों में भी अपवाद और संशोधन होते रहते हैं। यही कारण है कि हम भिन्न २ शास्त्रों में ही नहीं, किन्तु एक ही शास्त्र में यहांतक कि एक ही विषय में परस्पर विरुद्ध दोमत पाते हैं ।

उदाहरणार्थ आप मनुस्मृति को ही लेलीजिये, उसके नवें अध्याय में पहले तो "देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रियासम्यङ् नियुक्तया" इत्यादि वाक्यों में नियोग का विधान किया गया है और वे नियम भी दिये गये हैं, जिनका नियोग करने वाले स्त्री पुरुष पालन करें। इसी के कुछ आगे चल कर वह सारी इमारत जो अभी चिनी जारही थी, एकदम ढादी गई है और उसी नियोग को पशु धर्म कह कर निन्दा की गई है। इसी प्रकार तीसरे व पांचवें अध्याय में श्राद्ध और यज्ञादि के लिये ही हिंसा का विधान नहीं किया गया, किन्तु युक्ति और तर्क से भी मांसभक्षण की उपयुक्तता सिद्ध की गई है। यथाः—

> चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
> अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥
> नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
> धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ।
>
> ( मनु ५। २९–३० )

इसी के कुछ आगे चलकर पद्य ४५ से ५५ तक सब प्रकार के मांसभक्षण और हिंसा का निषेध किया गया है। ऐसे ही परस्पर विरुद्ध प्रसङ्ग अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। इस से सिद्ध है कि जब जो रीति समाज में प्रचलित हुई, तब उस समय के ग्रन्थों में उसका विधान किया गया, जब समाज की सभ्यता का परिवर्तन हुआ और उसमें वह निन्दनीय समझी जानेलगी, तब उसका निषेध भी अपवाद रूप से उस विधिके साथ जोड़ दियागया। यह उनलोगों की ईमानदारी है कि उन्होंने अपने सम्मत पक्ष के ही समान असम्मत पक्षको भी उन ग्रन्थों में सुरक्षित रक्खा, प्रक्षिप्त कहकर निकाल नहीं दिया। अस्तु, जब मनुष्यों की मति और रुचि भिन्न २ हैं, तब उनके बनाये

ग्रन्थों में और वह भी भिन्न २ समय और परिस्थितियों में यदि सामञ्जस्य और अविरोध न हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो हम लोगों की बुद्धि पर है, जो धर्मशास्त्र से व्यवस्था लेने में देश, काल और पात्र का कुछ भी विचार नहीं करते और उन नियमों को जो किसी विशेष समय या परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, सब दशाओं में समाज के लिए लागू बनाना चाहते हैं।

## देश, काल और पात्र।

यद्यपि सामान्य रीति पर प्रत्येक धर्मशास्त्र में कर्तव्य का विधान और अकर्तव्य का निषेध होता है, तथापि देश, काल और पात्र के भेद से कर्तव्याकर्तव्य में अन्तर पड़ता रहता है। जो काम किसी देश, काल और स्थिति विशेष में कर्तव्य हैं, वे ही भिन्न देश, समय और परिस्थिति में अकर्तव्य होजाते हैं। जो उष्णोपचार शीत कटिबन्ध में आवश्यक हैं, वेहीं उष्ण कटिबन्ध में अनावश्यक होजाते हैं। जो भोजन भूख और नीरोगिता की दशा में हितकारी है, वही अजीर्ण या ज्वर होने पर दुःखदायी होजाता है। जिस दान के दीनता और असमर्थता के कारण शूद्र और अन्त्यज भी पात्र होसकते हैं, उसी दान के सम्पन्न और समर्थ होने से ब्राह्मण भी अपात्र हैं।

जो काम एक चतुर वैद्य का है, वही बुद्धिमान् धर्मशास्त्रज्ञ का भी है। वह वैद्य जिसको रोगी की शारीरिक दशा का ठीक ठीक ज्ञान नहीं है और न वह उसके जानने का यत्न ही करता है। चाहे उसने आयुर्वेद शास्त्र को मथ डाला हो, कभी रोगी की चिकित्सा में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो धर्मशास्त्रज्ञ समाज की वर्तमान दशा और समय की आवश्यकताओं पर ध्यान न देकर केवल शास्त्रीय सन्दिग्ध और

परस्पर विरुद्ध प्रमाणों के आधार पर किसी विषय की व्यवस्था देने लगे, तो ऐसी व्यवस्था न केवल लोक में अमान्य और अनाचर्य होती है, किन्तु शास्त्रीय गौरव को भी हानि पहुंचाती है। हमारे इस कथन की पुष्टि बृहस्पति के निम्नलिखित वचन से भी होती है.—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥
(स्मृतितत्वधृत बृहस्पतिवचन)

अमुक बात शास्त्र में लिखी है, केवल इस आधार पर जो धर्म का निर्णय करते हैं और यह नहीं देखते कि किसने, क्यों और किस दशा में लिखी है? वे धर्म के गूढ़ तत्व को नहीं जान सकते। धर्म का तत्व जानने के लिए देश, काल और सामाजिक परिस्थिति का ज्ञान होना वैसा ही आवश्यक है, जैसा रोग का निदान करने के लिए रोगी की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति का। धर्म की इसी दुरूहता का अनुभव करके मनुस्मृति में इसकी चार कसौटी बतलाई गई हैं:—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

धर्म के निर्णय में यदि केवल श्रुति और स्मृति ही पर्याप्त होतीं तो सदाचार और स्वात्मप्रत्यय को उसके लिए आवश्यक न बताया जाता। इन चारों में भी स्वात्मप्रत्यय (विवेक) सब से मुख्य है और इसीलिए वह सब के अन्त में रक्खा गया है। बिना विवेक की सहायता के न तो हम श्रुति और स्मृति से ही लाभ उठा सकते हैं, न सदाचार को ही अनाचार या अत्याचार या मिथ्याचार से अलग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब शास्त्रकारों ने स्मृति और

पुराणों में ही नहीं, किन्तु श्रुति में भी द्वैध का होना माना है तो इस दशा में यदि विवेक से काम न लिया जाय तो शास्त्रों के विवादग्रस्त प्रमाणों से धर्म का निर्णय कैसे होसकता है? एक जिसको धर्म कहता है, दूसरा उसी को अधर्म बतलाता है। इसी असामञ्जस्य को लक्ष्य में रखकर महाभारत के वनपर्व में धर्मात्मा युधिष्ठिर ने यक्षकृत प्रश्न के उत्तर में यह वचन कहा है:—

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य बचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजना येन गताः स पन्थाः॥

इस पद्य में सन्दिग्धावस्था में सदाचार को प्रधान माना गया है, कहीं कहीं ऐसी अवस्था में विवेक को प्रधानता दी गई है। जैसा कि अज्ञातकुलशीला शकुन्तला का पाणिग्रहण कराते हुवे कविवर कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्मन्त से कहलाते हैं:—

सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

निदान जब पूर्वकाल में भी जबकि हेतुवाद अत्यन्त ही अप्रौढ़दशा में था, हमारे देश कालज्ञ पूर्वजों ने धर्म के निर्णय में तर्क, युक्ति और विवेक की उपेक्षा नहीं की, तब आजकल इस प्रकाश के युग में जबकि रूढ़िवाद प्रौढ़िवाद के अञ्चल में मुंह छिपाना चाहता है, केवल शास्त्र का आश्रय लेकर और वह भी अपने अभिमत अंश का, धर्म का निर्णय करने में कहां तक सफलता प्राप्त होसकती है? यह बात अब हमारे रूढ़िवादी भाइयों को भी सूझने लगी है। यही कारण है कि अब वे शास्त्रवचनों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए युक्ति और विज्ञान का भी आश्रय लेने लगे हैं, चाहे इसमें उनको सफलता हो या न हो।

## उत्सर्ग और अपवाद ।

सब शास्त्रों में दो प्रकार के नियम होते हैं, एक उत्सर्ग, दूसरे अपवाद । इन्हीं को सामान्य और विशेष भी कहते हैं । उत्सर्ग वे नियम हैं, जो सामान्य धर्म का प्रतिपादन करते हैं । जैसे—अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य्य । अपवाद वे नियम हैं, जो विशेष धर्म के प्रतिपादक हैं । जैसे—यज्ञ में वा युद्ध में हिंसा करना, परहित के लिए असत्य बोलना और ऋतुकाल में स्वस्त्री के साथ मैथुन करना । अब यदि कोई अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को साधारण धर्म मानकर अपवाद के स्थानों में भी इनकी कर्त्तव्यता सिद्ध करने लगे तो कोई बुद्धिमान् उसको धर्मशास्त्र न कहेगा । क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवाद को छोड़कर ही होती है । अर्थात् अपवाद तो उत्सर्ग को रोक सकता है, पर उत्सर्ग अपवाद के विषय में प्रवृत्त नहीं होता ।

अब प्रकृत यह है कि पुनर्विवाह चाहे पुरुष का हो या स्त्री का, आपद्धर्म होने से अपवाद का विषय है । क्योंकि पति और पत्नी की विद्यमानता और समर्थता में कोई इसका विधान नहीं करता, किन्तु इनकी अयोग्यता और एक दूसरे के वियोग में ही विवाह की आवश्यकता होती है । उसके लिए भी कोई शास्त्र या कानून इनको बाधित नहीं करता, किन्तु इनकी इच्छा पर निर्भर है । यदि इस दशा में ये विवाह करना चाहें, तो इनके लिए समाज में कोई रुकावट न होनी चाहिए । विशेष कर उस समाज में जो बिना विवाह सम्बन्ध के स्त्री पुरुष समागम को पाप और व्यभिचार मानता हो, यह रोक कभी न होनी चाहिए । यदि पुरुषों के लिए स्त्री की अयोग्यता या उसके वियोग में पुनर्विवाह वैध है, तो किसी

शास्त्र या क़ानून में यह शक्ति नहीं है कि वह स्त्रियों के लिये इन्हीं दशाओं में पुनर्विवाह को अवैध ठहरा सके। विवाह की जितनी आवश्यकता जिन कारणों से पुरुषों को है, उससे रत्ती भर भी कम स्त्रियों को नहीं और हिन्दू समाज में तो जिसमें विन व्याही स्त्रियाँ ( चाहे वे कैसी ही सुशीला और सच्चरित्रा क्यों न हों ) शंका की दृष्टि से देखी जाती है,यह आवश्यकता न्यायतः और भी बढ़जाती है।

कैसे आश्चर्य्य की बात है कि जो हिन्दू कन्याओं को दीर्घ-काल तक कुमारी रखना अच्छा नहीं समझते और इसलिए उनका समय से पहले विवाह करदेते हैं, वे ही उनको आजन्म विधवा बनाये रखने में कुछ भी आगा पीछा नहीं सोचते, यह उनकी कितनी भारी भूल है। दूसरा आश्चर्य्य यह है कि शास्त्र और लोकाचार की आड़ लेकर पचास २ और साठ २ वर्ष के बूढ़े बाबा अपने लिए पुनर्विवाह को वैध ठहराते हैं, पर आठ २ या दस २ वर्ष की अबोध कन्याओं के लिए उसे अवैध कहते उन्हें लज्जा नहीं आती।

## विधि और निषेध।

हमारा यह पक्ष नहीं है कि शास्त्रों में विधवाविवाह के निषेधक वाक्य नहीं हैं। उनमें निषेधक वाक्यों का होना ही इस बात को सिद्ध करता है कि पहले यहाँ विधवाविवाह की रीति प्रचलित थी। अन्यथा "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" इस नियम के अनुसार विना प्राप्ति के निषेध का होना ही असम्भव था। हमारा कथन केवल यह है कि जहाँ शास्त्रों में स्त्री जाति की निन्दा और विधवाविवाह के निषेधक वाक्य मौजूद हैं, वहां उनमें ऐसे वाक्य भी मिलते हैं, जिनमें विधवा विवाह की पुष्टि और स्त्रीजाति के प्रति आदर का भाव दिखाया गया

है। यह कहां का न्याय है कि निन्दा और निषेध को तो जो किसी विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, हम वैध और प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा करें, पर प्रशंसा और विधि को जो हमारे पूर्वजों की उदारता और सहृदयता का परिचय देते हैं, हम अवैध और शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करने की दुश्चेष्टा करें। समय और समाज की वर्त्तमान दशा को देखकर होना तो यह चाहिए था कि हम उन असद्भावों को जो स्त्रियों के प्रति हमारे शास्त्रों में कहीं २ प्रकट किए गए हैं, उपेक्षा करते और सद्भावों पर जो उन में अप्राप्य नहीं हैं, विशेष ध्यान देते। पर ऐसा तो तब करते, जब कि भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार बुराई में से भी भलाई ग्रहण करने की योग्यता हम में होती। हम तो अपनी बड़ाई इसी में समझते हैं कि भलाई में से भी बुराई ढूंढकर निकालें।

कहां हमारे प्रातःस्मरणीय पूर्वजों की वह कारुणिकता और उदारता कि उन्होंने किसी २ ग्रन्थ में विधवाविवाह का आंशिक निषेध होते हुवे भी समय की गति और समाज की स्थिति को देख कर इस का स्पष्ट रीति पर विधान करके अपने उत्कृष्ट नैतिक बल का परिचय दिया और कहां हमारी यह संकीर्णता और निष्ठुरता कि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में इसका स्पष्ट विधान होते हुवे भी, हम इसको शास्त्र विरुद्ध और अवैध सिद्ध करने में अपने पाण्डित्य का दुरुपयोग करते हैं।

## क्या सब बातों में हम शास्त्र की आज्ञा का पालन करते हैं?

थोड़ी देर के लिए हम विधवाविवाह को सर्वथा शास्त्र विरुद्ध भी मान लेवें, तब भी हम इस के विरोधियों से पूछ

सकते हैं कि वे अपने हृदय पर हाथ रखकर बतलावें कि क्या वे सब बातों में शास्त्र की आज्ञा का पालन करते हैं? यदि धर्मशास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध उन्होंने विदेशयात्रा, सेवा-वृत्ति, शूद्रों से विद्याध्ययन और सब जातियों का परस्पर संसर्ग आदि अनेक बातें स्वीकार करली हैं और करते जाते हैं, तो फिर एक विधवाविवाह ने ही ऐसा क्या अपराध किया है जिस के विरुद्ध शास्त्र की दुहाई मचाई जाती है? क्या वे बतलासकते हैं कि चारों वर्ण और आश्रमों के जो धर्म शास्त्रों में बतलाये गये हैं, आज हिन्दूसमाज में उनका यथाविधि पालन होरहा है? जब छोटी छोटी और तुच्छ बातों में जिनमें यदि हम शास्त्र की आज्ञा का पालन करते तो हमारे देश या समाज को कुछ हानि की संभावना न थी, हमने शास्त्र को उठाकर ताक़ में धर दिया और समयानुकूल आचरण करने लगे, किन्तु समय से भी आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगे। तब विधवाविवाह जैसे आवश्यक और उपयोगी विषय को, जिसके अप्रचार से आज हिन्दूसमाज में हज़ारों पाप और अनर्थ होरहे हैं और लाखों निरपराध बालविधवाओं का जीवन नष्ट होरहा है, शास्त्र की पूंछ बनाना, क्या यही शास्त्र की भक्ति है? जहां बलवानों के स्वार्थ से शास्त्र का विरोध होता है, वहां तो हम शास्त्र को उठा कर ताक़ में धर देते हैं। किन्तु जहां निर्बलों के स्वार्थ से शास्त्र टकराता है, वहां हम उस के अनन्यभक्त बनजाते हैं। यह शास्त्र की भक्ति नहीं, किन्तु अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए टट्टी की आड़ में शिकार खेलना है।

## विधवाविवाह शास्त्र सम्मत है

उक्त कथन से कोई महाशय यह न समझें कि हम विधवा

विवाह को शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। हमारा कथन केवल यह है कि यदि विधवाविवाह के लिए शास्त्र में कोई आज्ञा न भी होती, तब भी मनुष्यता के अनुरोध से लाखों निरपराध बालविधवाओं को अमानुषिक अत्याचार और नैराश्यजनित पाप और व्यभिचार से (जिस के कारण हिन्दूसमाज कलङ्कित होरहा है) बचाने के लिए हमें उसका आश्रय लेना चाहिये था, क्योंकि सब बातों के लिए हम शास्त्र की व्यवस्था नहीं ढूंढते फिरते। पर हमारे सौभाग्य से यह बात नहीं है, हमारे पूर्वज हमारे समान निष्ठुर और हृदयहीन न थे और वे यह भी खूब जानते थे कि समय किसी की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु समय की अपेक्षा यदि हम संसार में रहना चाहते हैं, तो हम को करनी चाहिये। यही कारण है कि उन्हों ने समय समय पर जब जैसी आवश्यकता हुई, तब वैसेही नियम हमारे लिए बनाये।

हम मानते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति के कारण स्त्री समाज के नियन्त्रण की उनको आवश्यकता हुई, जिसके कारण उनको इनके लिए कुछ कठोर नियम बनाने पड़े और इनकी स्वतन्त्रता पर भी हस्तक्षेप करना पड़ा। परन्तु इस से उनका उद्देश इन को सताना या पृथ्वी का भार बनाना नहीं था, उस आकस्मिक विपद् से जिसमें हिन्दू धर्म के प्राण और हिन्दू जाति की सत्ता दोनों संकट में थे, इनकी और जाति की रक्षा करने के लिए ही उन्होंने इनके नियन्त्रण और रक्षण पर अधिक बल दिया। यही समय था जबकि इनको शिक्षा और स्वतन्त्रता से वञ्चित करके कुमारियों की धर्मरक्षा के लिए बालविवाह और विधवाओं को विधर्मियों के चुंगल से बचाने के लिए सतीदाह की प्रथायें प्रचलित हुईं। विधवा

विवाह यद्यपि पूर्वकाल में प्रचलित था, पर इस समय के कुछ स्मृतिकारों ने उसका आंशिक विरोध किया, किसी २ ने पुष्टि भी की, पर लोकाचार ने अधिकतर विरोध का ही अनुसरण किया। उधर बालविवाह का जारी होना, इधर विधवा विवाह का रुकना, जब इन दोनों बातों का परिणाम बड़ा ही भयंकर हुवा और होना चाहिये था। जो विधवायें इस अत्याचार को सहन न करसकीं, वे कुलटायें बनगईं, जहां तहां गुप्तव्यभिचार; गर्भपात और भ्रूणहत्यायें होने लगीं और जो लोकलज्जा और अपने संबन्धियों की मानरक्षार्थ इस पाप पङ्क में लिप्त न हुईं, उनका जीवन उनके लिये ही नहीं किन्तु उनके सम्बन्धियों की दृष्टि में भी कांटे की तरह खटकने लगा और वे सोते, जागते, उठते, बैठते, बोलते, चालते और आते जाते सर्वत्र शंका की दृष्टि से देखी जाने लगीं।

इसप्रकार इस पापके कारण न मालूम कितनी अधखिली कलियां असमय में ही मुरझाकर अपनी जीवनलीला समाप्त करने लगीं। इन अनर्थों को देखकर उस समय के अनेक धर्मात्मा पुरुषों का हृदय पसीजा और उन्होंने उन्हीं ग्रन्थों में, जिनमें विधवाविवाह के निषेधक वाक्य मौजूद थे, विधायक वाक्य बनाकर जोड़ दिये, जिनमें अक्षतयोनि विधवाओं का विवाह तो बहुसम्मति से वैध ठहराया गया। पर किसी २ उदारचेता ग्रन्थकार ने तो क्षतयोनि विधवाओं को भी पाप जीवन से बचाने के लिए उनके विवाह की व्यवस्था दी, जिसका परिचय इसी अध्याय में आगे चलकर पाठकों को मिलेगा।

## वेद और विधवाविवाह।

अब हम इस प्रकरण में पाठकों को यह दिखलाना चाहते

कि जो लोग धर्मशास्त्र की आड़ लेकर विधवाविवाह का विरोध करते हैं और एड़ी से चोटी तक बल लगाकर इसको शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करने में अपने पांडित्य का दुरुपयोग करते हैं, उनको कहांतक इस अभद्रोचित प्रयास में सफलता होती है? हिन्दू धर्मशास्त्र के सर्व सम्मत तीन अङ्ग हैं—

श्रुति, स्मृति और पुराण। इन तीनों में भी श्रुति का प्रमाण मुख्य माना जाता है। प्राचीन या अर्वाचीन जितने धर्मशास्त्र के प्रणेता या व्याख्याता हुवे हैं। चाहे वे पौरुषेय वादी हों या अपौरुषेय वादी, सबने प्रमाण विषय में श्रुति को अनपेक्ष और स्मृत्यादि को सापेक्ष माना है, स्मृति भी वही प्रमाण मानी गई हैं, जो श्रुति से अविरुद्ध हों। श्रुति से अविरोध होनेपर तो सभी का प्रमाण माना गया है. परन्तु जहां श्रुति, स्मृति और पुराण इन तीनों का विरोध हो, या स्मृति और पुराण का विरोध हो, वहां उत्तर २ की अपेक्षा पूर्व २ का प्रमाण माना गया है। इस सर्वसम्मत शास्त्रीय व्यवस्था को कोई सनातनधर्मी अस्वीकार नहीं कर सकता। जैसाकि महर्षि द्वैपायन महाभारत के शान्तिपर्व में लिखते हैः—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणं तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है—

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत्॥

इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि जब वेदके विरुद्ध स्मृति और पुराण को भी नहीं माना गया है, तब लोकाचार और कुलाचार की तो कथा ही क्या है। वसिष्ठ का कथन हैः—

देशधर्मं जातिधर्मं कुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः।

इसी प्रकार गौतम ने भी कहा हैः—

देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।

इन वचनों से सिद्ध है कि स्मृति से लेकर कुलधर्म तक वेद के अविरुद्ध का ही प्रमाण माना गया है। अब रही यह बात कि क्या वेद के विरुद्ध है और क्या अविरुद्ध, इसका निर्णय कैसे हो? इस पर जैमिनि पूर्वमीमांसा में लिखता है:—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्। (१)
(पूर्वमीमांसा २-३-३)

इस जैमिनीय व्यवस्था के अनुसार जिन विषयों का साक्षात् श्रुति से विरोध हो, वेही त्याज्य हैं और जिनका श्रुति में स्पष्ट विधि या निषेध कुछ न हो, वे यदि श्रुति के किसी आदेश के विरुद्ध नहीं हैं तो उनके विषय में अनुमान किया जायगा कि वे श्रुतिसम्मत हैं। जैसे कि षोड़श संस्कार या पञ्चमहायज्ञ, जिनका सूत्रों और स्मृतियों में तो सविस्तर उल्लेख पाया जाता है, पर किसी श्रुति में अनुक्रम पूर्वक नहीं। इस व्यवस्था के अनुसार कोई इनको अवैदिक नहीं कहसकता। यदि श्रुति में हमारे विधेय विधवाविवाह की कोई स्पष्ट आज्ञा न भी होती, तब भी हम इस जैमिनीय व्यवस्था के अनुसार उसके वैदिक होने का अनुमान कर-सकते थे। क्योंकि आजतक इसके विपक्षियों को इतना अन्वेषण करने पर भी किसी वेद में कोई श्रुति ऐसी नहीं मिली, जिस में विधवाविवाह का स्पष्ट तो क्या सांकेतिक रीतिपर भी निषेध कियागया हो। पर हमारे सौभाग्य से विधवाविवाह ऐसा सन्दिग्ध या श्रुति में अप्रतिपादित विषय नहीं है, जिस को सिद्ध करने के लिए हमको कल्पना या अनुमान से काम लेना पड़ेगा, उसके लिए वेद में स्पष्ट आज्ञा है॥

---

(१) विरोध में तो त्याज्य है, पर विरोध न होनेपर अनुमान करना चाहिये।

## वैदिक प्रमाण।

निदान हिन्दू शास्त्रकारों ने एकमत होकर प्रमाण विषय में वेद को सर्वोपरि महत्व दिया है। कोई हिन्दू चाहे किसी धर्म या संप्रदाय से सम्बन्ध रखता हो, वैदिक प्रमाण की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतएव सबसे पहले हम यही देखना चाहते हैं कि जिस वेद का हिन्दू इतना आदर करते हैं, उसकी प्रस्तुत विषय में क्या सम्मति है ? लीजिये :—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त्वमेतत्पत्युर्जनित्वमभिसंबभूव॥

( कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता ६-१-१४ )

इस मन्त्र का सर्ववेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य ने जो भाष्य किया है, उसको अविकल हम यहां पर उद्धृत करते हैं:-

सायणकृतभाष्यम्—"तां प्रतिगतः सव्ये पाणावभिपाद्योत्थापयति देवरः जरद्दासो वा। हे नारि ! त्वमितासुं गतप्राणमेतं पतिमुपशेषे, उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व, अस्मात्पतिसमीपादुत्तिष्ठ। जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्यैहि, आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतज्जनित्वं जायात्वमभिसंबभूव, आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहीत्यर्थः।"

भाषानुवादः—"देवर वा कोई वृद्ध सेवक विधवा स्त्री का ( जो मृतपति के पास बैठी हुई है ) हाथ पकड़कर उठाता है और कहता है। हे नारि ! तू मरे हुवे इसपति के पास बैठी है, यहां से उठ और जीवित प्राणिसमूह में आ। अब तू हाथ पकड़ने वाले और पुनर्विवाह की इच्छा करने वाले पति के सम्मुख होकर उसके पत्नीत्व को प्राप्त कर।"

पाठक ! यह उन सायनाचार्य्य का, जिनको हिन्दू वेदभाष्यकारों में प्रधान मानते हैं, शब्दशः अनुवाद है, इसमें कितनी स्पष्टता से पत्यन्तर का विधान कियागया है । विधवाविवाह का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या होसकता है ? पर शोक कि हमारे रूढ़िवादी भाई जो शास्त्र को भी रूढ़ि की पूंछ बनाना चाहते हैं, ऐसी स्पष्ट और असन्दिग्ध आज्ञा के होते हुवे भी इसको शास्त्रविरुद्ध कहने का हठ और साहस करते हैं ।

यही मन्त्र कुछ पाठान्तर के साथ ऋग्वेद के मण्डल १० में भी आया है, वहाँ इसका पाठ और अर्थ सायनभाष्य में इस प्रकार दिया गया है :—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥
( ऋ वेद १०–२–१८–८ )

सायनभाष्यम्—"देवरादिकः प्रेतपत्नीमुदीर्ष्व नारीत्यनया भर्त्तृसकाशादुत्थापयेत् । हे नारि ! मृतस्यपत्नि ! जीवलोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात्स्थानादुत्तिष्ठ । गतासुमपक्रान्तप्राणमेतं पतिमुपशेषे, तस्य समीपे स्वपिषि । तस्मात्त्वमेह्यागच्छ, यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः दिधिषोः गर्भस्य निधातुः तवास्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य संबभूथ संभूतासि अनुसरणनिश्चयमकार्षीः तस्मादागच्छ । "

भाषानुवाद—"देवरादि प्रेतपत्नी को इस मन्त्र से पति के समीप से उठावे । हे नारि ! जीवित पुत्रपौत्रादि के गृहको लक्ष्य करके तू यहां से उठ, तू इस मृतपति के पास पड़ी है । तू पाणिग्रहण और गर्भधारण करने वाले इस पति के सम्बन्ध

से प्राप्त हुवे पत्नीत्व को लक्ष्य करके सन्तप्त होरही है और इस के मरने का तुझे निश्चय होगया है, इसलिये यहां से उठ।"

पूर्व मन्त्र के अर्थ से इस मन्त्रके अर्थ में कुछ भेद है। पूर्व मन्त्रमें तो सायनने स्पष्ट और असन्दिग्ध रीति पर विधवाविवाह का विधान किया है। इस मन्त्र के अर्थ में पदों की खींचतान और अध्याहारों की भरमार ही सिद्ध कररही है कि "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इतनी खींचतान करने पर भी मन्त्र का कोई विधेय सिद्ध नहीं होता। जब लौकिक वाक्य भी विधेयशून्य नहीं होते, तब यह कैसे होसकता है कि वैदिक वाक्य का कोई अभिधेय नहो? इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि पति की विद्यमानता में पत्नी कहलाती है, जब पतिही न रहा, तब पत्नीत्व धर्म कैसा? इस दशा में तो उस से वैधव्य धर्म के पालन करने का अनुरोध करना चाहियेथा। क्या विधवा भी पत्नीत्व धर्म का पालन कर सकती है? यदि कर सकती है तो फिर विधवा और सधवा में भेद क्या रहा? और यदि नहीं करसकती तो फिर उससे 'इदम्' सर्वनाम से जो अङ्गुलिनिर्देश में आता है, यह कहना कि तू मृतपति के इस पत्नीत्व को लक्ष्य करके उठ, सर्वथा अशक्योपदेशहै। जब मृतपतिही न रहा तब उसके सम्बन्ध से पत्नीत्व का आवाहन करना सूखे और मुरझाये हुवे पुष्प को सुगन्धि को फिर लाने की चेष्टा करना है। अतएव निम्नलिखित कारणों से यह दूसरा अर्थ असंगत है और मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को छिपाने के लिये कियागया है।

प्रथम तो इसमें पूर्वार्ध की उत्तरार्ध के साथ संगति ही नहीं मिलती। जब पूर्वार्ध में विधवा स्त्री को मृतपति के पास से उठाकर जीवितों में लाया गया है, तब उत्तरार्ध में फिर

उसको मृतपति के सम्बन्ध को याद दिलाना असङ्गत ही नहीं, किन्तु शोकवर्द्धक भी है। उसके दुःख का कारण क्या है? मृतपति की स्मृति, उससे उसका ध्यान हटाने से ही शोकापनोदन हो सकता है। उसको वहां से उठाकर फिर उसके सम्बन्ध की याद दिलाना, यह शोकापनोदन है या शोकाभिवर्द्धन?

दूसरे जब उसका पति ही न रहा, तब उसमें पत्नीत्वधर्म का आरोप कैसा? क्या बिना पति के भी वह पत्नीत्व धर्म्म का पालन कर सकती है? अब जनित्व कहां है? जिसको 'इदम्' शब्द से कहा जाता है। अब तो वैधव्य है, इसलिए 'इदम्' सर्वनाम से उसीका निर्देश होसकता है। यदि श्रुति का तात्पर्य पूर्वपति के ही जनित्व से होता तो उसका निर्देश 'तद्' सर्वनाम से होना चाहिये था। साधारण वैयाकरण भी इस बात को जानते हैं कि 'इदम्' सर्वनाम संनिकृष्ट में और 'तद्' सर्वनाम परोक्ष में प्रयुक्त होता है। जैसा कि निम्नलिखित कारिका में भर्तृहरि ने कहा है:—

"इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्॥"

जब यहां जनित्व उसके पूर्वपति के सम्बन्ध से आया हुआ है, तो उसके लिये पूर्व परामर्शक 'तद्' सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिए था, न कि वर्त्तमान काल के सूचक 'इदम्' सर्वनाम का। इससे सिद्ध है कि "इदं जनित्वम्" का सम्बन्ध वर्त्तमान पति से है, न कि मृतपति से। यदि "इदं जनित्वम् अभिसम्बभूथ" के स्थान में "इदं वैधव्यम् अभिसंबभूथ" कहा जाता, तब तो अर्थ की सङ्गति होजाती और "अस्य सम्ब-

न्धात् आगतम्" इस लम्बे अध्याहार के भी जोड़ने की आवश्यकता न होती।

तीसरे इस अर्थ में इतनी खींचतान करने पर भी "जादू वह जो सिर पै चढ़के बोले" इस कहावत के अनुसार 'हस्तग्राभस्य' इस पद के अर्थ में "पाणिग्राहं कुर्वतः" यह 'शतृप्रत्ययान्त' प्रयोग भाष्यकार की लेखिनी से भी निकल ही पड़ा। इसने स्वयं ही पूर्वपति के सम्बन्ध का निराकरण कर दिया। क्योंकि "लटःशतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इस पाणिनीय सूत्र ( ३-२-१२४ ) के अनुसार 'शतृ' प्रत्यय सदा वर्त्तमान काल में होता है। यदि यहां पाणिग्रहण करने वाला विधवा का मृतपति होता तो भूतार्थक 'क्तवत्' प्रत्ययान्त का प्रयोग किया जाता, अर्थात् "पाणिग्राहं कृतवतः" पाठ होता। क्योंकि मृतपति तो उसका पाणिग्रहण कर चुका है, न कि अब करता है। फिर उसके लिए 'कुर्वतः' यह 'शतृ' प्रत्ययान्त प्रयोग देना उस बिना नींव की भित्ति को जो वास्तविक अर्थ को छिपाने के लिए उठाई गई है, एक दम ढा देता है।

चौथे इस अर्थ में 'दिधिषु' शब्द का अर्थ, जो द्विरूढ़ापति के लिये प्रयुक्त हुवा है, 'गर्भधाता' करना अप्रासङ्गिक है। देखो, मनु इसका प्रयोग द्विरूढ़ापति के लिए करता है:—

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां सज्ञेयो दिधिषूपतिः॥ ( ३-१०३ )

अन्य भी स्मृतिकारों ने प्रायः इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है! प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह भी इस शब्द का यही निर्वचन करता है:—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुःपतिः।
सतु द्विजोऽग्रे दिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी ( २-६-२३ )

अमरकोश के इस प्रमाण से सिद्ध है कि अमरसिंह के समय में द्विजोंमें विधवा का पुनर्विवाह प्रचलित था। अन्यथा "सतु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी" वह न लिखता अर्वाचीन अभिधानकारों ने भी प्रायः इसी का अनुसरण किया है, विस्तरभय से हम यहाँ पर उसका उल्लेख करने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त 'गर्भधाता' अर्थ करने से वेद में व्यर्थापत्ति दोष भी आता है, जो सर्वथा अनिष्ट है। यदि कोई गर्भाधान किए विना ही पञ्चत्व को प्राप्त होजाय तो उसके लिए यह विशेषण व्यर्थ होगा। अतएव 'दिधिषु' शब्द का यहां पर 'गर्भधाता' अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं।

पांचवें इतनी पदों की खींचतान और अध्याहारों की भर-मार करने पर भी मन्त्र का कोई विधेय सिद्ध नहीं होता। आश्चर्य्य की बात है कि मुर्दे के पास से तो विधवा को उठाया जाता है और जीवितों में भी लाया जाता है पर इस प्रश्न का उत्तर कि अब वह प्राणिसमूह में आकर क्या करे और किस प्रकार अपने जीवन को यापन करे, इस अर्थ में कुछ नहीं मिलता और यही इसकी अविधेयता है।

छठे इससे पहले मन्त्र में मृतक को श्मशान में पहुंचाकर जो स्त्रियां गृह में प्रवेश करें, उनको सामान्यतः अविधवा और सुपत्नी आदि विशेषणों से अलङ्कृत किया गया है, उससे इसकी सङ्गति नहीं मिलती, हम उस मन्त्र को भी सायनकृत अनुवाद सहित यहां उद्धृत करते हैं।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥
( ऋग्वेद १०-२-१८-७ )

सायनभाष्यम्-"( अविधवाः ) जीवत्भर्तृकाः ( सुपत्नीः ) शोभनपतिकाः ( इमा नारीः ) एता नार्यः ( आञ्जनेन ) सर्व-

तोऽञ्जन साधनेन ( सर्पिषा ) घृतेनाक्तनेत्राः सत्यः (संविशन्तु) गृहान् प्रविशन्तु तथा ( अनश्रवः ) अश्रुवर्जिताः ( अनमीवाः ) अमीवा रोगस्तद्वर्जिता मानसदुःखरहिता इत्यर्थः ( सुरत्नाः ) रत्नैरलंकृताः (जनयः) जनयन्त्यपत्यमिति जायाः (अग्रे) सर्वेषां प्रथमतएव ( योनिम् ) गृहम् ( आरोहन्तु ) आगच्छन्तु ।"

भाषानुवाद—"जीवित और शोभनपति वाली ये स्त्रियां अञ्जन और घृत आँखों में लगा कर घरों में प्रवेश करें। ये दुःख और शोक से रहित एवं रत्नों से अलंकृत होकर सबसे पहले घरों में आवें।"

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय कोमल होता है, उनपर शोक या हर्ष का प्रभाव अधिक और शीघ्र पड़ता है, उससे बचाने के लिये ही उन्हें शोक और विलाप से रोका गया है। इस मन्त्र मे जो स्त्रियों के विशेषण दिये गये हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि उस समय का पुरुष समाज इनको इस भयानक दशा में, जिसमें आजकल लाखों बालविधवायें अपना दुःखमय जीवन व्यतीत करती हैं, देखना पसन्द नहीं करता था, वह जिस स्थिति में इनको देखना चाहता था, उसीका संक्षिप्त चित्र इस मन्त्र में खींचा गया है।

पाठक ! यही मन्त्र है, जिसमें 'अग्रे' का 'अग्ने' बनाकर बंगाल के कुछ पण्डितों ने सतीदाह प्रथा की पुष्टि में इस मन्त्र का प्रस्तुत किया था और इसका यह अर्थ किया था कि "हे अग्ने ! ये स्त्रियां विधवापन के दुःखों को न भोगने के लिये आंखों मे अञ्जन और घी लगाकर शोक न करती हुई तेरी ज्वाला में प्रवेश करें।" सर रमेशचन्द्र दत्त अपने प्राचीन सभ्यता के इतिहास में लिखते हैं कि "धर्मोन्माद का इससे अधिक निन्दनीय उदाहरण और क्या होसकता है?" हर्ष का

विषय है कि श्री सायनाचार्य के उक्त अर्थ की विद्यमानता में धर्मध्वज पण्डितों की यह चाल न चलसकी और सब पोल खुल गई।

अस्तु, जब सायन पूर्व मन्त्र के अर्थ में तो स्त्रियों का विधवा रहना अच्छा नहीं समझता और उनको सुहाग के अलङ्कारों से भूषित देखना चाहता है। फिर यह कब होसकता है कि वह उत्तर मन्त्र के अनुवाद मे उनको मृतपति के पत्नीत्व में जकड़ना चाहे। अतएव पूर्वमन्त्रके अर्थसे तथा यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के इसी मन्त्रके सायणकृत अर्थ से (जैसाकि हम दिखलाचुके हैं) विरुद्ध होने के कारण यह अर्थ (चाहे सायन का किया हो या उसके नामसे किसी अन्य का) कदापि माननीय नहीं होसकता।

सातवें यदि प्रदर्शित हेतुओं की उपेक्षा करके "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से हम इस अर्थ को भी ठीक मानलें। तब भी विरोधियों को यह कहने का अधिकार कब है कि हम सायन के इस अर्थ को तो ठीक मानते हैं, पर पूर्व मन्त्र के अर्थ को नहीं। मन्त्र दोनों वेद के हैं और भाष्यकार भी दोनों का एक ही है, फिर कोई कारण नहीं कि एक को तो प्रमाण माना जाय और दूसरे को अप्रमाण। वेदानुयायी लोगों के लिए मनु की इस व्यवस्थानुसार दोनों ही प्रमाण होने चाहियें:—

> श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
> उभावपिहि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ (२-२४)

अब हम ऋग्वेद का एक मन्त्र और उद्धृत करते हैं, जिससे पूर्वकालिक विधवाओं की परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है और हर्ष का विषय है कि वह परिस्थिति सर्वथा विधवाविवाह की पोषक है। वह मन्त्र यह है:—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
कोवां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थआ ॥
( ऋग्वेद १०-८-४०-२ )

सायणभाष्यम्—'हे अश्विनौ ! ( कुहस्वित् ) क्वस्वित् ( दोषा ) रात्रौ ( कुह ) क्वा ( वस्तोः ) दिवा भवथः ( कुह ) क्वा ( अभिपित्वम् ) प्राप्तिम् ( करतः ) कुरुथः ( कुह ) क्वा ( ऊषथुः ) वसथः। किंच ( वाम् ) युवाम् ( कः ) यजमानः ( सधस्थे ) सहस्थाने वेद्याख्ये ( आकृणुते ) आकुरुते, परिचरणार्थमात्माभिमुखीकरोतीत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तौ दर्शयति— ( शयुत्रा ) शयने ( विधवेव ) यथा मृतभर्तृका नारी (देवरम् ) देवरमभिमुखीकरोति । ( मर्यंन ) यथाच मर्वं मनुष्यम् ( योषाः ) सर्वा नारीः संभोगकालेऽभिमुखीकरोति, तद्वदित्यर्थः।"

भाषानुवाद—"हे अश्विन देवताओ ! तुम रातमें और दिन में कहां रहे, कहां तुमने आवश्यक पदार्थों का पाया और कहां तुम बसे ? किस यजमान ने यज्ञशाला में तुम्हारी सेवा की ? जैसे शय्या में विधवा देवर को और स्त्री मैथुनकाल में पुरुष की सेवा करती है। "

इसी मन्त्र की व्याख्या करता हुआ यास्क निरुक्त में देवर शब्द का यह निर्वचन करता है "देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते" देवर इसलिये कहलाता है कि वह दूसरा वर है।

पाठक ! अब आप न्याय करें कि इस से अधिक विधवा-विवाह की पुष्टि और क्या होसकती है ? यदि वैदिक काल में विधवाविवाह वर्जित होता तो वेद का यह मन्त्र इतनी स्पष्टोक्ति में शयन स्थान में विधवा को देवर के पास जाने और उसकी सेवा करने की अनुमति कदापि न देता। वेद मन्त्रों में

इतना स्पष्ट विधान होने पर भी विपक्षी इसको वेदविरुद्ध कहने का हठ और साहस करते हैं। किमाश्चर्य्यमतः परम्?

अब हम अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करेंगे, जिनमें विधवाविवाह की स्पष्ट आज्ञा दीगई है। अथर्ववेदके नवें काण्ड में एक अजपञ्चौदन सूक्त है, जिसमें कुल ३८ मन्त्र हैं, उसके २७ वें और २८ वें मन्त्र में कितनी स्पष्टता से विधवाविवाहका प्रतिपादन कियागया है। यथा :—

या पूर्वं पतिं वित्वाऽथान्यं विन्दते परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥
( अथर्व० ९।३।५।२७—२८ )

सायणकृतपदच्छेदः—या पूर्वं पतिं वित्वा अथ अन्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं च तौ अजं ददातः न वियोषतः॥ २७॥ समानलोकः भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २८॥

भाषानुवाद—जो पहले पति को प्राप्त होकर तदनन्तर दूसरे पति को प्राप्त होती है, वे दोनों अजपञ्चौदन दानको देते हुवे वियुक्त नहीं होते॥ २७॥ विधवा के साथ दूसरा पति एकही लोक में रहता है, जो दक्षिणा की ज्योतिवाले अजपञ्चौदन दान को देता है॥ २८॥

पहले मन्त्र से विधवा और उसके दूसरे पति का चिरकाल तक बिना वियोग के इस लोकमें संयुक्त रहना और दूसरे मन्त्र से परलोक में भी एक ही साथ स्वर्गसुख का भोगना किस स्पष्टता के साथ दिखलाया गया है। पाठक! जिस हिन्दू धर्म में स्त्री के लिए पति संयोग से बढ़कर और कोई सुख

और पतिलोक की प्राप्ति से बढ़कर और कोई गति नहीं मानी गई है। जब वेद भगवान् स्वयं अजपञ्चौदन यज्ञ करने से पुनर्विवाहिता विधवा को भी उसी सुख और गति का अधिकारी बतलाते हैं, तब वे लोग जो वेद की इस आज्ञा के विरुद्ध रूढ़ि का आश्रय लेकर विधवाओं को इस स्वत्व से वञ्चित करना चाहते हैं, वे संसार में केवल पाप और अनर्थ का ही बीज नहीं बोरहे, किन्तु जान बूझकर शास्त्र की विडंबना कर रहे हैं। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ऐसे ही लोगों के विषय में लिखते हैं:—

कल्प २ भरि एक २ नर्का। परहिं जे दूषहिं श्रुति कर तर्का॥

इसी अथर्ववेद के अठारहवें काण्ड में दो मन्त्र और हैं, उनसे भी विधवाविवाह की भली प्रकार पुष्टि होती है पहला मन्त्र यह है:—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

( अथर्व १८। ३। १। १ )

श्री सायणाचार्य ने जो इस मन्त्र का अर्थ किया है, वह इस प्रकार है:—

"हे मर्त्य! यह स्त्री पतिलोक को चाहती हुई और पुराण धर्म का पालन करती हुई तुझ प्रेत के पास आई है, उसके लिए इस लोक में सन्तान और धन को धारण कर।"

यदि इस मन्त्र से मृतपति के साथ विधवा का सहमरण अभीष्ट होता तो चतुर्थपाद में इस लोक में उसके लिये सन्तान और धन की प्रार्थना करना निष्फल होता है। अतएव सहमरण की कल्पना को तो यह प्रार्थना ही निरस्त करदेती है। अब रहा उसका प्रजावती और धनवती होना, सो चाहे धन-

वती होना किसी और प्रकार से भी सम्भव होसके, पर प्रजावती होना तो पति के अभाव में सर्वथा असम्भव है। अतएव इस मंत्र की आज्ञानुसार जबतक वह पुनर्विवाह न करेगी, प्रजावती कैसे होसकती है? इस मंत्र का यही निष्कर्ष बंगाल के सुप्रसिद्ध विवेचक पं० महेशचन्द्र घोषने भी कार्तिक संवत् १९७६ के प्रवासी में (जो बंगभाषा का एक प्रसिद्ध मासिक पत्र है) निकाला है।

इसके आगे दूसरा मन्त्र वही है, जो तैत्तिरीय यजुः संहिता और ऋग्वेद से हम उद्धृत कर चुके हैं। यद्यपि उसके अर्थ में कुछ विशेषता नहीं है, तथापि मृतपति से सन्तान और धन का अनुज्ञा लेने के पश्चात् विधवा को उसके पास से उठाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यदि भविष्य में उसे धन और सन्तान की कामना हो, तो पुनर्विवाह के द्वारा वह उसे पूर्ण करे, क्योंकि बिना पुनर्विवाह के चाहे धन की कामना पूरी होजाय, पर सन्तान की कामना पूरी करने का तो सिवाय इसके और कोई उपाय ही नहीं है।

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के ५ वें काण्ड में एक मन्त्र और है, जिससे पूर्वकाल में बहुपत्नीत्व के समान बहुपतित्व का होना भी सिद्ध होता है:—

उतयत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥
(अथर्व ५। ४। १७। ८)

भावार्थ—यदि पहले किसी स्त्री के अब्राह्मण दश पतिभी हों, ब्राह्मण यदि एक भी हाथ पकड़े तो वह सच्चा पति है।

इससे सिद्ध है कि पूर्व काल में पति के मरने पर ही नहीं, किन्तु जीवितावस्था में भी स्त्रियां दूसरा पति कर सकती थीं।

द्रौपदीके पांच पति की कथा चाहे कल्पित हो या वास्तविक, उसका आधार भी हम तो इसी प्रकार की श्रुतियों को समझते हैं। इससे कोई महाशय यह न समझें कि हम बहुपतित्व की प्रथा को अच्छा समझते हैं। हमारा आशय केवल इतना ही है कि जिस वेदमें बहुपतित्व तक का विधान किया गया है, उसको विधवाविवाह के विरुद्ध बतलाना विपक्षियों का कितना बड़ा साहस है ?

## क्या वेद में कहीं विधवाविवाह का निषेध भी है ?

पाठक ! वेदों में और भी अनेक मन्त्र हैं, जो विधवा विवाह की पुष्टि में प्रस्तुत किये जासकते हैं, परन्तु हम इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। जो वेदानुयायी हैं, उनके लिए एक भी वेदवचन पर्याप्त है। पर हां जो वेद को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं, उनके लिए सारे वेद भी कुछ नहीं कर सकते। यदि वेद में कोई वचन ऐसा भी होता कि जिसमें विधवाविवाह का प्रत्यक्ष या परोक्ष रीतिपर निषेध भी होता तो भी शास्त्रकारों की बान्धी हुई मर्यादा के अनुसार कोई वेदानुयायी इन विधायक वाक्यों को अप्रमाण कहने का साहस नहीं कर सकता था, क्योंकि श्रुतिद्वैध में सब शास्त्रकार दोनों पक्षों को ही प्रमाण मानते हैं। पर वेद का कोई ऐसा वचन आजतक इसके विपक्षी इतना गर्जन और तर्जन करने पर भी प्रस्तुत नहीं कर सके, जिसमें विधवा विवाह का स्पष्ट निषेध किया गया हो, जैसा कि उक्त मन्त्रों में स्पष्ट विधान किया गया है। बड़ी ढूंढभाल के पश्चात् दो प्रमाण उनको ऐसे मिले हैं, जिनको वे इसके खण्डन में प्रस्तुत करते हैं। उनमें से एक ऐतरेय ब्राह्मण का है और दूसरा तैत्तिरीय संहिता का। हम उन दोनों प्रमाणों को भी

यहां उद्धृत करते हैं और उनसे यहां तक विधवाविवाह का खण्डन होता है, इसका निर्णय पाठकों के ऊपर छोड़ते हैं।

तस्मादेकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः ।

( ऐतरेयब्राह्मण पञ्चिका ३ खण्ड १२ )

भावार्थ–"इसलिए एक पुरुष की बहुत सी स्त्रियां होती हैं, एक स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं होते।"

इस वचन को विधवाविवाह के खण्डन में प्रस्तुत किया जाता है। हम आश्चर्य में हैं कि इससे विधवाविवाह का खंडन क्योंकर होता है? जबकि इसमें 'पतयः' शब्द के साथ 'सह' अव्यय प्रयुक्त हुआ है। क्या यह कहना कि किसी स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं होसकते, इस बातको सिद्ध नहीं करता कि समयान्तर में हो सकते हैं। जब श्रुति में स्पष्ट यह कहा गया है कि एक साथ स्त्री के अनेक पति नहीं होसकते, तब अर्थापत्ति से स्वयमेव यह सिद्ध होगया कि समयान्तर में ऐसा होसकता है, फिर यह प्रमाण विपक्ष का साधक है या बाधक? हमारे इस कथन की पुष्टि में दो प्रमाण ऐसे हैं, जिन पर विपक्षियों को कुछ कहने का अवकाश ही नहीं मिलसकता पहला 'वीरमित्रोदय' ग्रन्थ के प्रणेता मित्र मिश्र का और दूसरा महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ का। इसी श्रुति की विवेचना करते हुवे मित्र मिश्र वीरमित्रोदय में लिखते हैं:—

"अथाधिवेदनम्, तदुक्तमैतरेय ब्राह्मणे–"एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतय इति" सह शब्द सामर्थ्याद् क्रमेण पत्यन्तरं भवतीति गम्यते। अतएव "नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयत इति" मनुना स्त्रीणामपि पत्यन्तरं स्मर्यते।"

( वीरमित्रोदय आधिवेदन प्रकरणम् )

भावार्थ-" अव अधिवेदन ( बहुविवाह ) का प्रकरण आरम्भ करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "एक पुरुष की अनेक स्त्रियां होसकती हैं, परन्तु एक स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं होसकते।" इस पर मित्र मिश्र लिखते हैं—"सह शब्द के सामर्थ्य से क्रम पूर्वक पत्यन्तर का होना सिद्ध होता है, तभी तो "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस पद्य में मनु ने भी स्त्रियों के पत्यन्तर का विधान किया है।" यह है उक्त श्रुति पर मित्र मिश्र की सम्मति।

आधुनिक मनुस्मृति में "नष्टे मृते प्रव्रजिते" यह पद्य नहीं मिलता, किन्तु पराशर स्मृति और नारदस्मृति में मिलता है! पर मित्र मिश्र के इस लेख से यह सिद्ध है कि पहले मनुस्मृति में यह पद्य था, अन्यथा " मनुना स्मर्यते " यह वे न लिखते। इसके अतिरिक्त माधवाचार्य ने भी पराशर स्मृति की टीका में इसे मनु का वचन लिखा है, जब दो विद्वानों की यह सम्मति है, तब यदि हम यह अनुमान करें कि विपक्षियों के हस्तक्षेप का यह फल है तो यह उनपर मिथ्यापवाद लगाना न होगा। अस्तु, ऐसा करने से भी उनका मनोरथ सिद्ध न हुवा, जबकि पराशरस्मृति में जो विशेषतः कलियुग के लिए है और नारदस्मृति में जो मनुस्मृति का संक्षेपसार है, यह पद्य मौजूद है।

दूसरा प्रमाण महाभारत का है। जब युधिष्ठिर ने पांचों भाइयों के साथ राजा द्रुपद से द्रौपदी के विवाह का प्रस्ताव किया, तब द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहाः—

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥

इसका उत्तर युधिष्ठिर ने यह दियाः—

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे॥

( महाभारत आदिपर्व अध्याय १६५ )

इन पद्यों की टीका करता हुवा नीलकण्ठ उक्त श्रुति की प्रतीक देकर लिखता है:—

"नैकस्यै बहवः सह पतय इति श्रुत्या सहेति युगपद्बहुपतित्व निषेधो विहितो नतु समयभेदेन। पूर्वेषां प्रचेतः (१) प्रभृतीनां तैर्यातं वर्त्म बहूनामेकपत्नीत्वमनुयामहे। तच्च आनुपूर्व्येणैव न त्वक्रमेण।"

भाषार्थ-"नैकस्यै बहवः सहपतयः" इस श्रुति में 'सह' शब्द के प्रयोग से एक साथ बहुपतित्व का निषेध है, न कि समयान्तर में। हमारे पूर्वज प्रचेतस् आदि जिस मार्ग से चले हैं, हम भी उसी का क्रम से अनुसरण करेंगे।"

जब इस वचन से नीलकण्ठ पति की जीवितावस्था में भी केवल समयभेद के कारण बहुपतित्व का विधान करता है, तब किस में सामर्थ्य है कि पति के मरने पर पत्यन्तर विधान को इस श्रुति के विरुद्ध ठहरा सके।

अब रहा दूसरा प्रमाण तैत्तिरीय संहिता का, वह भी इसी प्रकार का है :—

यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्देत।
यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौपती विन्देत॥

( तैत्तिरीय संहिता ६-६-४ )

भाषार्थः-"एक खूंटे में दो रस्सी बाँधी जाती हैं, इसलिए एक पुरुष दो स्त्रियों को प्राप्त करसकता है। पर एक रस्सी

---

(१) प्रचेतस् नाम के १० क्षत्रिय थे, जिन्होंने 'मारिषा' नाम्नी स्त्री से विवाह किया था। जिसके गर्भ से "दक्ष" प्रजापति उत्पन्न हुवे।

( देखो ब्रह्मपुराण अध्याय २ )

दो खूंटों में नहीं बाँधी जाती, इसलिए एक स्त्री दो पति नहीं करसकती।"

इसका तात्पर्य भी बिलकुल उक्त श्रुति से मिलता है, जैसे एक पुरुष एक ही समय में दो विवाह करसकता है, वैसे एक स्त्री एक ही समय में दो विवाह नहीं करसकती। इस बातको खूँटे और रस्सी के दृष्टान्त से कहागया है। यद्यपि न्याय की दृष्टि से एकही समय में दो स्त्रियों का रखना पुरुष के लिए भी अच्छा नहीं और इसका परिणाम भी बड़ा भयानक होता है, तथापि पूर्वकाल में यह प्रथा इस देश में प्रचलित थी। यही कारण है कि इस वाक्य में बहुपतित्व का तो निषेध कियागया है, पर बहुपत्नीत्व का नहीं। किन्तु इस निषेध का तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्व पति के न रहने पर भी स्त्री यदि चाहे तो दूसरा पति न कर सके। खूँटे और रस्सी का दृष्टान्त ही इस निषेध की सीमा का निर्धारण करदेता है। पहले खूँटे के होते हुवे कौन उसकी रस्सी दूसरे खूँटे से बाँधता है? वह दूसरे खूँटे से तभी बाँधी जाती है, जब पहला खूँटा नहीं रहता, या निकम्मा होकर रस्सी बाँधने के अयोग्य होजाता है। इसी प्रकार जिस स्त्री का पति विद्यमान एवं समर्थ है, उसका कौन दूसरे पति के साथ विवाह करता है? वह पूर्व पति के अभाव या असामर्थ्य में ही पत्यन्तर की अधिकारिणी होती है। अतएव इस श्रुति में जो बहुपतित्व का निषेध है, वह पूर्व पति की विद्यमानता में है और इसकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लिखित प्रमाण से भली प्रकार होती है।

पाठक! आपने देखलिया, विपक्षियों की ओर से बड़ी ढूँढभाल के पश्चात् जो दो वैदिक प्रमाण विधवाविवाह के खण्डन में दियेगये थे, उनका क्या परिणाम हुवा? बस ऐसे

ही प्रमाणों से जो किसी विशेष अवस्था में बहुपतित्व का निषेध करतेहैं, हमारे भाई विधवाविवाह को अवैध सिद्ध करना चाहते हैं। यदि इनसे विधवाविवाह अवैध सिद्ध होसकता है तो फिर आशौच में यज्ञ, दान और व्रत आदि वर्जित होने से ये सब अवैध होजायेंगे। किसी विशेष परिस्थितिमें कोई काम वर्जित होने से उसको सब अवस्थाओं में वर्जित समझ लेना यह बुद्धि की जीर्णता नहीं तो और क्या है?। हम बलपूर्वक यह बात कह सकते हैं कि ऐसा कोई वैदिक प्रमाण जिस में स्पष्ट और प्रत्येक दशा में स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का निषेध कियागया हो, आजतक इसके विपक्षी न तो प्रस्तुत कर सके हैं और न कर सकते हैं।

## स्मृतिशास्त्र और विधवाविवाह

अब हम स्मृतिशास्त्र से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध करेंगे। याज्ञवल्क्य के मतानुसार स्मृतिसंहिता २० हैं, जिनके नाम ये हैं:—

मन्वत्रिविष्णुहारीत याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

( याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय १

ये २० स्मृतिकार हुवे हैं जिनके बनाये ग्रन्थ संहिता वा स्मृति कहलाते हैं अब विचारणीय यह है कि इन स्मृतियों में जो कुछ प्रतिपादन किया गया है, वह सब युगों के लिये समान है, या भिन्न २ युगों के लिए भिन्न २ धर्म नियत किये गये हैं? इस प्रश्न का उत्तर मनु यह देता है:—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ ( मनु १-८५ )

कृतयुग आदि में जो धर्म माने जाते थे, वे कलियुग में नहीं माने जासकते। क्योंकि कलियुग में मानुषी बुद्धि और बल का बहुत कुछ ह्रास होगया है। अब प्रश्न यह होता है कि कलियुग के धर्म किस या किन ग्रन्थों में वर्णन किये गये हैं? इसका उत्तर पराशर अपनी स्मृति में यह देता है:—

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः
द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराःस्मृताः।
(पराशरस्मृति १-२४)

इसकी पुष्टि इसबात से भी होती है कि अन्य स्मृतिकारों ने किसी युगविशेष का निर्देश न करके अपने २ धर्मशास्त्र को आरम्भ किया है, पर पराशर ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कलिधर्मनिरूपण की प्रतिज्ञा की है। यथाः—

अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौयुगे।
धर्मं साधारणं शक्यं चातुर्वर्ण्याश्रमागतम्।
संप्रवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशर वचो यथा॥
(पराशर स्मृति २-१)

## पराशरस्मृति और विधवाविवाह।

उक्त कथन से सिद्ध है कि पराशरस्मृति का कलियुगसे विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि वह मुख्यतः उसी के लिए बनाई गई है अतएव यदि किसी विषय में अन्य स्मृतियों से पराशर स्मृति का विरोध हो तो कलियुग के लिए उसी का प्रमाण माना जाना चाहिये। अब हम देखना चाहते हैं कि भगवान् पराशर ने विधवा विवाह के विषय में क्या आज्ञा दी है? वे लिखते हैं:—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेच पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः।
तिस्रः कोट्योर्धकोटीच यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्त्तारं यानुगच्छति॥
( पराशरस्मृति ४। २८-२९-३० )

इन पद्यों में भगवान् पराशर ने विधवा स्त्री के लिए तीन धर्म बतलाये हैं। पहला यह कि वह विवाह करै, दूसरा यह कि ब्रह्मचर्य धारण करे और तीसरा यह कि वह पति का अनुगमन करै। इन में से तीसरा सहमरण तो पहले भी क्वाचित्क ही था, यवनों के समय में उसका कुछ प्रचार अवश्य हुवा, परन्तु आजकल की सभ्यता तो उसका किसी प्रकार अनुमोदन नहीं कर सकती। यही कारण है कि वह आजकल के क़ानून में वर्जित किया गया है। अतएव हम उसका उपयोग करने में सर्वथा असमर्थ हैं। पराशर की आज्ञानुसार अब केवल दो धर्म विधवाओं के लिए अनुष्ठेय रहजाते हैं। यातो वे आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करके तपस्वियों का जीवन व्यतीत करैं या पुनर्विवाह करके गृहस्थ का पालन करैं। इन दोनों में भी आठ २ या दस २ वर्ष की बालविधवाओं के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करना और उस दुर्धर्ष काम के वेग को जीतना, जिसके सामने विश्वामित्र और पराशर जैसे तपस्वियों ने भी शिर झुकादिया हो, कितना कठिन और दुष्कर काम है? इसको और कोई अनुभव न करें तो न करैं, पर उन लोगों को तो अवश्य अनुभव करना चाहिये जो पचास २ और साठ २ वर्ष की अवस्था में भी बिना स्त्री के नहीं रह सकते।

अतएव बालविधवाओं के लिए पराशरोक्त केवल पहला उपाय ही शेष रहजाता है कि वे पुनर्विवाह करके गृहस्थधर्म

का पालन करें और इसी लिए पराशरने कलियुग में उसको सब से आवश्यक समझकर पहली कक्षा में रक्खा है। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि जो विधवायें सन्तान वालीहैं, या गृहस्थ का कुछ सुख भोग चुकी हैं, वे भी ब्रह्मचर्य से पुनर्विवाह को श्रेष्ठ समझें। हाँ यदि उनमें से भी किसी की प्रवृत्ति विषयवासना की ओर है तो छिप छिप कर पाप करने की अपेक्षा उनके लिए भी पुनर्विवाह बहुत ही उत्तम है।

अब रही यहबात कि इस पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह पौनर्भव कहलायगी या औरस? मन्वादि स्मृतिकार तो जिन्होंने बारह प्रकार की सन्तति मानी है, ऐसी सन्तानको पौनर्भव मानते हैं, पर पराशर ने केवल तीनही प्रकार की सन्तति मानी है :—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः।

औरस, क्षेत्रज, दत्त या कृत्रिम। इन में से क्षेत्रज तो वह सन्तान है, जो नियोग के द्वारा दूसरे के लिए उत्पन्न की जाती है। दत्त और कृत्रिम भी दूसरे की सन्तान हैं, केवल औरसही अपनी सन्तान है। दूसरी बात यह है कि पुनर्विवाह करने से केवल स्त्री की ही 'पुनर्भू' संज्ञा नहीं होती, किन्तु पुरुष की भी होती है, यही कारण है कि यह शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुँलिङ्ग दोनों में आता है। "एकस्य भूत्वा पुनरन्यस्य भवतीतिपुनर्भूः" सो यह लक्षण स्त्री पुरुष दोनों में समान है। फिर यह कैसा अन्धेर है कि हज़ारों पुनर्भू पुरुष पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, उनकी बाबत यह प्रश्न नहीं होता कि वे औरस हैं या पौनर्भव? केवल पुनर्भू स्त्रियों के विषयमें यह प्रश्न किया जाता है। हमारा उत्तर यह है कि यदि पुनर्भू पुरुष की सन्तान निर्विवाद औरस मानी जाती है तो फिर हम पुनर्भू

स्त्री को भी इस अधिकार से वञ्चित नहीं कर सकते। यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि सन्तान का नामकरण पुरुष के नाम से न करके स्त्री के नाम से किया जाता है। हमारे कथन को पुष्टि महाभारत के भीष्म पर्व में महर्षि द्वैपायन करते हैं:—

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान्भीष्मरक्षिणः॥

(म० भा० भीष्मपर्व अध्याय ९१श्लोक ८०)

इस श्लोकमें 'इरावान्' को अर्जुन का औरस पुत्र कहागया है। यदि पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र औरस न कहलाकर पौन-र्भव कहलाते तो व्यास जी पुनर्विवाहिता नागराजसुता के पुत्र को कदापि औरस न लिखते।

जो लोग कहते हैं कि मनुने पुनर्भू स्त्री की ही सन्ततिको पौनर्भव माना है न कि पुनर्भू पुरुष की। यथा :—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पोनर्भव उच्यते॥ (मनु०९–१७५)

उनके प्रति हमारा यह निवेदन है कि मनु ने तो बारह प्रकार के पुत्रोंमें क्षेत्रज=नियोगसे उत्पन्न अपविद्ध=परित्यक्त और गूढोत्पन्न=जारज को भी दायाद (वारिस) माना है। क्या आज कल वे ऐसे पुत्रों को यह अधिकार देने के लिए प्रस्तुत हैं? यदि नहीं तो फिर मनु की दुहाई देकर पौनर्भव को हीन क्यों सिद्ध किया जाता है? यदि मनु निर्दिष्ट दायभाग कलियुग के लिए सम्मत होता तो बृहस्पति अपनी स्मृति में यह न लिखता:—

अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिर्ये पुरातनैः।
न शक्यास्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥

(बृहस्पति स्मृति १४–१४)

इससे सिद्ध है कि चाहे अन्य युगों में पुनर्विवाह की सन्तान पौनर्भव कहलाती हो, पर कलियुग में भगवान् पराशर ने उसको औरस ही माना है। यदि वे उसको औरस न मानते तो फिर कोई कारण न था कि पुनर्विवाह का विधान करके एक चौथी संख्या पौनर्भव की और न रखते।

## विपक्षियों के आक्षेप और उनकी आलोचना।

अब हम उन आक्षेपों की भी कुछ आलोचना करना चाहते हैं, जो विधवाविवाह के विपक्षी पराशरोक्ति पर किया करते हैं।

पहला आक्षेप उनका यह है कि माधव ने जो पराशर स्मृति का प्रसिद्ध टीकाकार है, पराशर के इन वचनों को युगान्तरीय कहकर कलियुग के लिये पुनर्विवाह को निषिद्ध ठहराया है।

समीक्षा—कैसे आश्चर्य की बात है कि जो पराशर अपनी संहिता के आरम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करता है "अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौयुगे" "अब मैं कलियुग में गृहस्थ के धर्म और आचारों का वर्णन करता हूं" जिसके विषय में प्रायः स्मृतिकारों की यह सम्मति है कि पराशर स्मृति कलिधर्म का निरूपण करती है, उसके इन वचनों की बाबत माधवाचार्य का यह लिखना कि ये कलियुग के वास्ते नहीं हैं, क्या यह वही बात नहीं है कि "मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त" तभी तो माधव के इस प्रलाप का श्रीभट्टोजिदीक्षित ने चतुर्विंशति स्मृति की व्याख्या में इस प्रकार निराकरण किया है:—

'नच कलिनिषिद्धस्यापि युगान्तरीयधर्मस्यैव 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इत्यादि पराशरवाक्यं प्रतिपादकमिति वाच्यं कलावनुष्ठेयान् धर्मानेव वक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय तद्ग्रन्थ प्रणयनात्।"

(चतुर्विंशतिस्मृतिव्याख्यायाम्)

भाषार्थः-" 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इत्यादि यह पराशर वाक्य कलिनिषिद्ध युगान्तरीय धर्म का प्रतिपादक है, माधव का यह कथन अयुक्त है, क्योंकि कलियुग में अनुष्ठेय धर्मों का वर्णन करता हूं, यह प्रतिज्ञा करके ही पराशर स्मृति बनाई गई है।"

भट्टोजदीक्षित के इस कथन से सिद्ध है कि सारी पराशर स्मृति कलियुग से सम्बन्ध रखती है, फिर उसके किसी वचन को कलियुग के लिए निषिद्ध ठहराना उसके उद्देश और विधेय का ही नष्ट करना है ? इसके अतिरिक्त नन्द पण्डित ने भी "औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः" इस पराशरीय वाक्य की व्याख्या करते हुवे "इति कलिधर्मप्रस्तावे पराशरस्मरणात्" लिखा है, जिससे सिद्ध है कि नन्दपण्डित की दृष्टि में भी पराशर स्मृति कलिधर्म का ही निरूपण करती है।

अच्छा इसको भी जाने दो, "जादू वह जो सिर पै चढ़ के बोले" स्वयं माधवाचार्य ही पराशर स्मृति के पहले अध्याय के तीसरे पद्य की व्याख्या करता हुवा लिखता है:—

"यद्यपि मन्वादयोऽपि कलिधर्माभिज्ञास्तथापि पराशरस्यास्मिन् विषये तपोविशेषबलादसाधारणः कश्चिदतिशयो द्रष्टव्यः।"

भाषार्थः-" यद्यपि मन्वादि भी कलिधर्म के जानने वाले थे, तथापि तपोविशेष के कारण पराशर का इस विषय में असाधारण महत्व देखाजाता है।"

तत्पश्चात् इसी अध्याय के ४४ वें पद्य की व्याख्या करता हुवा पुनरपि माधव लिखता है:-

"सर्वेष्वपि कल्पेषु पराशरस्मृतेः कलिधर्मपक्षपातित्वात्। मन्वादिस्वपि कलिविषयेषु पराशरः प्राधान्येनादरणीयः।"

भावार्थः-"सब कल्पों में पराशरस्मृति कलियुग के धर्म की पक्षपातिनी है, कलिसम्बन्धी प्रायश्चित्तों में भी पराशर प्रधानता से आदरणीय है।"

पाठक! जो माधव स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में बलपूर्वक यह कहता है कि पराशरस्मृति सब युगों में कलिधर्म का ही निरूपण करती है और यहाँतक लिखता है कि कलियुग में प्रायश्चित्त भी उसी के अनुसार होने चाहियें, वही आगे चलकर यदि पुनर्विवाह को युगान्तरीय कहकर कलिवर्ज्य ठहराने लगे तो क्या उसका यह कथन (चाहे वह माधव हो या उद्धव) वदतोव्याघात या उन्मत्तप्रलाप नहीं समझा जायगा?

हम यह कल्पना करलेते हैं कि माधव ने सारी पराशर स्मृतिको कलियुगके लिये मानकरभी तत्प्रतिपादित पुनर्विवाह को कलिनिषिद्ध ठहराया है। हम मानलेते हैं कि स्वतन्त्र होने से प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह अपनी कुछ सम्मति रक्खे! पर कम से कम इसका कारण तो उसे बतलाना चाहिये था कि जिस सम्पूर्ण स्मृति को वह कलियुग के लिए मानचुका है, उसके केवल इन्हीं वचनों को उसे अपवाद मानने की आवश्यकता क्यों हुई? अच्छा, हम कारण बताने के लिये भी उसे बाध्य नहीं करसकते। हम केवल उसके कथनानुसार ही पराशर की उक्त आज्ञा को कलिनिषिद्ध मानलेते हैं, तब क्या विधवा के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना और पतिका अनुगमन करना ये दोनों धर्म भी कलिनिषिद्ध माने जायेंगे? यदि कहो कि नहीं, केवल स्त्री का पुनर्विवाह ही कलिवर्जित माना जायगा, अन्य नहीं। तो कैसे आश्चर्य की बात है कि तीन आज्ञाओं में से जो एक साथ दीगई हैं, केवल पहली आज्ञा को कलिनिषिद्ध ठहराया जाता है, दूसरी और

तीसरी का सम्बन्ध फिर कलियुग से जोड़दिया जाता है। खूब !! पराशरस्मृति क्या हुई ? माधव की बालक्रीड़ा के लिए एक खिलौना होगया, जहां चाहा उसे तोड़ दिया और जहां चाहा फिर जोड़ दिया।

और भी देखिए !! पहले अध्याय के १६ वें पद्य की व्याख्या करता हुवा माधव स्वयं लिखता है:-

"अतःकलौ प्राणिनां प्रयाससाध्ये धर्मे प्रवृत्यसम्भवाद् सुकरो धर्मोऽत्र वुभुत्सित इति।"

भावार्थः-अतएव कलियुग में प्राणियों की कठिन धर्म में प्रवृत्ति का होना असम्भव जानकर ही पराशरने उनके लिए सुगम धर्म का प्रतिपादन किया है।

सब जानते हैं कि आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करना अथवा जीवित ही अग्नि में प्रवेश करना ये कैसे कठिन और उग्र धर्म हैं, इनकी अपेक्षा पुनर्विवाह कितना सरल और सुसाध्य है। फिर आगे चलकर माधव का उसको युगान्तरीय कहकर कलिवर्ज्य ठहराना न केवल पराशर के उद्देश को ही नष्ट करना है, किन्तु स्वयं अपनी बार बार की हुई प्रतिज्ञा के विरुद्ध लिखकर अपनी साख को भी गंवाना है।

दूसरा आक्षेप कोई कोई यह भी करते हैं कि "नष्टे मृते प्रव्रजिते" यह पराशरीय वचन वाग्दत्ता कन्या से सम्बन्ध रखता है नकि विवाहिता से। उनका कथन यह है कि जिस कन्याका वाग्दान होगया हो, पर विवाह न हुवा हो उसका उक्त पाँच अवस्थाओं में दूसरा विवाह होसकता है न कि विवाहिता का।

समीक्षा-यदि यहां वाग्दान का प्रकरण होता तो पराशर स्पष्ट लिखता, जैसा कि मनु ने वाग्दान के अनन्तरः-

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ( मनु ६-६६ )

इस पद्य से नियोग का विधान किया है । पर पराशर स्मृतिमें स्पष्ट तो क्या कहीं सांकेतिक रीति पर भी वाग्दानका उल्लेख नहीं है । दूसरे उक्त पद्य में प्रयुक्त हुवे 'पत्नौ' और 'नारीणाम्' शब्द इस शंका को उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं देते । क्योंकि पाणिग्रहण संस्कार के पहले न पुरुष किसी का पति कहलाता है और न स्त्री किसी की पत्नी । जैसा कि वसिष्ठ का कथन है:-

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताधो वरो यदि ।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥

जब वसिष्ठ पाणिग्रहण के बिना वाणी तो वाणी जल से भी दीहुई कन्या को कुमारी मानता है और लोकाचार भी ऐसा ही देखने में आता है । वाग्दान तो एक ओर बरातें जाकर लौट आती हैं और कन्या का विवाह दूसरे के साथ करदिया जाता है । इस दशा में शास्त्र और लोकाचार दोनों के अनुसार न तो वाग्दत्ता का पति ही होसकता है और न वह नारी ही कहलासकती है, क्योंकि नर की स्त्री होने से नारी कहलाती है । जब पराशर उक्त पद्य में स्पष्ट कहता है कि पति की पांच अवस्थाओं में नारी का अन्यपति होसकता है, तब यहाँ वाग्दान की कल्पना करना ( जिसमें नतो पुरुष की पति संज्ञा होती है और न स्त्री की नारी ) कैसी निर्मूल कल्पना है। माधवाचार्य ने भी यद्यपि युगान्तरीय कहकर इसको टाला है, पर वाग्दान की गन्ध इसमें उसको भी न आई, अन्यथा वह इसका उल्लेख अवश्य करता ।

तीसरा आक्षेप कोई कोई यह भी करते हैं कि पराशर ने यह व्यवस्था द्विजों के लिए नहीं, किन्तु द्विजेतरों के लिये दी

है, अतएव शूद्रों में इसके अनुसार स्त्रीका पुनर्विवाह होसकता है।

समीक्षा– पराशर तो आरम्भ में जैसा कि हम उद्धृत कर चुके हैं, यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं चारों वर्ण और चारों आश्रमों के धर्म वर्णन करूंगा, पर हमारा प्रतिवादी कहता है कि नहीं, इस पद्य में पराशरने केवल शूद्रों के लिए व्यवस्था दी है। अच्छा यदि प्रतिवादी को प्रसन्नता के लिये हम इसे शूद्रों के लिये ही मानलें तो इस में 'पति' के 'प्रव्रजित' और 'पतित' दोनों विशेषण व्यर्थ होजाते हैं। क्योंकि हिन्दू शास्त्र की मर्यादा के अनुसार न तो शूद्र को संन्यास ही लेने का अधिकार है और न वह पतित ही होसकता है। द्विज पतित होकर शूद्र बन सकता है, पर शूद्र पतित होकर क्या बनेगा? क्या पांचवां वर्ण कोई और भी है? जब शूद्र सन्यासी और पतित नहीं होसकते, तब उनके लिए यह व्यवस्था कैसी? विचारे माधवाचार्य को भी यह बात नहीं सूझी, नहीं तो वह कलिवर्ज्य के समान द्विजवर्ज्य भी इसको लिखदेता।

चौथा आक्षेप कोई मनचले विपक्षी यह भी कर बैठते हैं कि पद्य के उत्तरार्ध में जो 'पति' शब्द आया है, उस के अर्थ संरक्षक के हैं, नकि भर्त्ता के। अर्थात् इन पांच अवस्थाओं में स्त्री को अपना दूसरा संरक्षक बनाना चाहिये, न कि दूसरा पति करना चाहिये।

समीक्षा–जब पूर्वार्ध में 'पति' शब्द का अर्थ भर्त्ता विपक्षियों को भी स्वीकृत है, तब उत्तरार्ध में उस के विरुद्ध अर्थ की सम्भावना होही नहीं सकती। क्योंकि 'पति' शब्द का 'अन्य' विशेषण ही जो उत्तरार्ध में दिया गया है, उसको सापेक्ष सिद्ध कररहा है। इस बात को सब जानते हैं कि

पहले की अपेक्षा से दूसरा होता है। पहला पति यदि भर्त्ता है तो दूसरा संरक्षक कैसे होजायगा ? हाँ यदि पहले को भी संरक्षक मानलो तो बात दूसरी है। इस दशा में इस व्यवस्था की ही कुछ आवश्यकता नहीं रहती। यदि पराशर को इन पंच अवस्थाओं में सरक्षक ही बनाना अभीष्ट होता तो वह "पतिरन्यो विधीयते" के स्थानमें "रक्षकोऽन्यो विधीयते" ही न लिखता। पुनरुक्त 'पति' शब्द के साथ 'अन्य' शब्द का प्रयोग करना इस बात को सिद्ध करता है कि पूर्व पति के जो अधिकार और स्वत्व थे, वही इस दूसरे पति के भी होंगे।

एक बात और भी इसमें ध्यान देने योग्यहै कि पूर्व पति के नपुँसक और पतित होनेपर भी इस पद्य में दूसरा पति करने की आज्ञा दीगई है। यदि प्रतिवादी के कथनानुसार हम दूसरे पति का अर्थ सरक्षक ही मानलें, तो फिर प्रश्न यह है कि क्या नपुंसक और पतित अपनी स्त्रीके संरक्षक नहीं बनसकते? यदि बन सकते है तो फिर ऐसी अवस्था में दूसरा सरक्षक बनाने की आज्ञा क्यों दीगई ?

पाँचवां आक्षेप कोई २ महात्मा यह भी करते हैं कि पद्य में पुनर्विवाह का विधान नहीं, किन्तु निषेध है और यह सिद्ध करने के लिए वे पद्य के चतुर्थपाद को "पतिरन्योऽविधीयते" ऐसा पदच्छेद करने लगते हैं।

समीक्षा—प्रथम तो व्याकरण के नियमानुसार ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि आख्यातिक क्रिया के साथ "नञ्" का समास नहीं होता यदि "अविधीयते" के 'अ' को 'नञ्' नमान कर निषेधार्थक अव्यय मानें तो फिर पूर्वरूप सन्धि न होसकेगी। अतएव "अविधीयते" यह प्रयोग सर्वथा अशुद्ध है। यदि "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से हम इस असाधु प्रयोग को भी

साधु मानलें, तो फिर अर्थापत्ति से इसका यह अर्थ होगा कि इन पाँच दशाओं के अतिरिक्त दूसरा पति हो सकता है। अर्थात् पति के मरने पर तो स्त्री दूसरा विवाह न करै, पर उसके जीतेजी करलेवे। इसी प्रकार उसके विदेशस्थित विरक्त, नपुंसक और पतित होने पर तो वह विवाह का नाम नले, पर इनके अभाव में उसे विवाह अवश्य करना चाहिए, पराये अपशकुनके लिए अपना नाक कटाना इसीको कहते हैं। चाहे अनवसर प्राप्त पुनर्विवाह सिद्ध होजाय, पर अवसर प्राप्त का खण्डन हम अवश्य करेंगे। इसी प्रकार के कुतर्कों से हमारे भाई विधवाविवाह को शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं।

छठा आक्षेप एक यह भी किया जाता है कि इस पद्य में सप्तमीके एकवचनमें जो 'पतौ' प्रयोग दियागयाहै, वह व्याकरण के नियमानुसार अशुद्ध है, 'पत्यौ' होना चाहिये था, अतएव यह माननीय नहीं होसकता।

समीक्षा—यद्यपि 'पतौ' प्रयोग व्याकरण की रीति से अशुद्ध है, तथापि पद्यात्मक ग्रन्थों में व्याकरण से अधिक छन्दोनियमों का ध्यान रक्खा जाता है। छन्दोनियम के अनुसार यहां 'पत्यौ' हो नहीं सकता था, अतएव छन्दोभङ्ग दोष से पद्य को बचाने के लिए ग्रन्थकार को विवश होकर 'पतौ' प्रयोग देना पड़ा। नारदस्मृति के पद १२ में और अग्नि पुराण के अध्याय १५४ में भी यह पद्य आया है, वहां भी ऐसा ही पाठ है और इसी पराशर स्मृति के दसवें अध्याय के २७वें पद्य में भी यही पद प्रयुक्त हुवा है। सो इसमें कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है, क्योंकि संस्कृत का कोई पद्यात्मक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें व्याकरण की ऐसी त्रुटियां न हों। महाभारत, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थों में भी कहीं २ ऐसे

व्याकरणनियमविरुद्ध प्रयोग आजाते हैं, पर वे आर्ष होने से प्रमाण मानलिए जाते हैं कोई उनको असाधु प्रयोग नहीं कह-सकता। पराशर भी ऋषि थे, इसलिए उनका प्रयोग भी आर्ष होने से साधु है।

सातवाँ आक्षेप—कोई २ यह भी करते हैं कि पद्योक्त पाँच दशाओं में पराशर ने नियोग की आज्ञा दी है, न कि पुनर्विवाह की। इसलिए इन पांच दशाओं में नियोग होना चाहिये, न कि पुनर्विवाह।

समीक्षा—यह आक्षेप उन लोगों की ओर से कियाजाता है जिन्होंने प्रतिज्ञा करली है कि चाहे सब कुछ शास्त्र से सिद्ध होजाय, पर जहाँतक हमारा बस चलेगा हम विधवाविवाहको शास्त्र से सिद्ध न होने देंगे। कहीं तो नियोग को पशुधर्म बत-लाया जाताहै और कहीं उसकी आड़ ली जातीहै। पर यहाँ पर इस आड़ लेने से भी काम न चलेगा। क्योंकि नियोग में तो पतिपत्नीभाव ही नहीं होता, उसमें सन्तानार्थ केवल वीर्य-दान दिया और लिया जाता है। नियुक्त पुरुष न तो स्त्री का पति होसकता है और न नियुक्ता स्त्री उसकी पत्नी ही कहला सकती है और न किसी शास्त्र में उनके पतिपत्नीधर्म के पालन करने की आज्ञा है। परन्तु इस पद्य में तो पराशरने स्पष्टही पुरुष के लिए 'पति' और स्त्री के लिये 'नारी' शब्द का प्रयोग किया है, जो दोनों के पतिपत्नी सम्बंध को सूचित करताहै। यदि पराशर को नियोगकी ही आज्ञा देनी अभीष्ट होती तो वह 'पतिरन्यो विधीयते' के स्थान में 'सन्तानोत्पत्तिरिष्यते' न लिखता। अतएव पद्य में पत्यंतर का विधान करने से परा-शर को पुनर्विवाह ही इष्ट है न कि नियोग।

नियोग की प्रथा चाहे पूर्वकाल में यहां प्रचलित रही हो और उसके उदाहरण भी महाभारतादि ग्रन्थों में कहीं कहीं पाये जाते हों, पर आधुनिक सभ्यता किसी दशा में भी उसे स्वीकार नहीं कर सकती। अतएव किसी शास्त्र में यदि उसका विधान भी हो तो भी इस समय वह हमारे लिये उपेक्षणीय है। पर पराशर स्मृति में तो उसका कहीं गन्ध भी नहीं।

---

# मानवधर्मशास्त्र और विधवाविवाह।

## वर्त्तमान मनुसंहिता।

विधवाविवाह के विपक्षी मनुस्मृति पर बड़ा जोर देते हैं और कहते हैं कि चाहे पराशरादि अन्य स्मृतिकारों ने विधवा विवाह का किसी अंश में विधान भी किया हो, पर वह मनुस्मृति के विरुद्ध होने से माननीय नहीं होसकता। मनु के प्राधान्य में वे बृहस्पति का यह वचन प्रस्तुत करते हैं:—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते॥

इसपर हमारा यह वक्तव्य है। यद्यपि यह निर्णय करना कि जो ग्रन्थ आजकल मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है, जिस में १२ अध्याय और २६८५ पद्य हैं, बड़ा कठिन है। हमारे सन्देह के ये कारण हैं:—

प्रथम तो इसमें "मनुरब्रवीत्" "मनुरकल्पयत्" इत्यादि वाक्य ही सिद्ध कर रहे हैं कि यह ग्रन्थ मनु का बनाया हुवा नहीं है, किन्तु मनु के नाम से संग्रह किया गया है, क्योंकि मनु स्वयं अपने निर्मित ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिख सकता। दूसरे इसकी नवीन शैली की पद्यरचना तथा इसमें वेन, नहुष, पृथु, सुदास, निमि और यवन आदि राजाओं का उल्लेख होने से

भी यह बात अवगत होती है कि यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं है। तथापि हम इस विषय पर कि यह ग्रन्थ कब और किसने बनाया ? विवाद करना नहीं चाहते। हम मान लेते हैं कि यह मनुकाही बनाया हुवा है और बहुत प्राचीन है। यह मान लेने पर भी इसकी उपयुक्तता तबतक सिद्ध नहीं होसकती, जबतक कि इसके सिद्धान्त लोगों को मान्य और ग्राह्य न हों। प्रत्यक्ष है कि मनु के बहुत से सिद्धान्त आजकल समाज को अग्राह्य हैं। चाहे अपने पूर्वजों का आदर करते हुवे वाणी से हम उनका तिरस्कार न करें, किन्तु अपने को ही उनके अयोग्य सिद्ध करें, पर समाज की वर्तमान अवस्था में किसी प्रकार भी हम उनको अपने आचरण में नहीं लासकते। उदाहरणार्थ हम मनुके कुछ नियम यहांपर देते हैं, जो आजकल हिन्दूसमाज में अप्रचलित ही नहीं किन्तु घृणाकी दृष्टि से देखे जाते हैं। वाग्दत्ता कन्याके विषय में मनुलिखता हैः—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेदाप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥
न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम्॥
( मनु० ९। ६९-७०-७१ )

इन पद्यों में मनुने वाग्दान के अनन्तर यदि वर की मृत्यु होजाय तो पुनः कन्या के विवाह का निषेध किया है और उसको देवर के साथ नियोग करने की आज्ञा दी है पर आजकल कोई भी हिन्दू मनु की इस कठोर आज्ञा को नहीं मानता और हम समझते हैं, जब से इतिहास का आरम्भ हुवा है, कभी यह आज्ञा नहीं मानी गई। इसके विरुद्ध आजकल

हिन्दूसमाज में सर्वत्र वसिष्ठ की आज्ञा मानी जाती है, जो इस प्रकार है:—

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा॥
यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥
( वसिष्ठस्मृति १७। ६४-६५ )

वशिष्ठ इन पद्योंमें वाग्दत्ता ही नहीं, किन्तु उदकस्पर्शिता कन्या के भी पुनर्विवाह की आज्ञा देता है और स्पष्ट कहता है कि जबतक मन्त्रोच्चारण पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार न हो, तबतक वह कन्या है, उसका दूसरे के साथ विवाह करदेना चाहिये। यम और गौतम भी वसिष्ठ के मत की पुष्टि करते हैं। यथा,—

नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे॥ ( यमस्मृति )

गोतम भी अपनी स्मृति में इसी की पुष्टि करता है:—

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात। ( गोतमस्मृति )

पाठक देखें, इन दोनों ऋषियों की आज्ञामें कितना अन्तर है? कहना नहीं होगा कि आजकल का लोकाचार वसिष्ठ की आज्ञा का अनुसरण करता है, मनुकी आज्ञा को उसने ताक़ में धर दिया। इसी प्रकार मनुके नवें अध्याय में जो दायभाग के नियम दिये गये हैं, हिन्दुओं में वे आजकल कहीं नहीं माने जाते और न वे वर्तमान परिस्थिति में मानने के योग्य ही हैं। इस विषय में प्रचलित हिन्दूला भी याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा के नियमों का किसी अंशतक अनुसरण करता है, जो कि मनु की अपेक्षा कुछ सुधरे हुवे हैं। मनुकी क्रूरताका सबसे अधिक परिचय हमको आठवें अध्यायमें मिलताहै, जहां उसने शूद्रोंकेलिये

सामान्य अपराधों में भी ऐसे लोमहर्षण दण्डों का विधान किया है, जिनको स्मरण करके शरीर के रोंगटे खड़े होजाते हैं और इस बीसवें शतक में किसी मनुष्य के ध्यान में भी यह बात नहीं आसकती कि कभी ऐसी दण्डविधि यहां प्रचलित रही हो। देखिए! ब्राह्मण के पास बैठने की इच्छा करने मात्र से मनु ने शूद्र के लिए कैसा भीषण दण्ड लिखा है:—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्या कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्त्तयेत् ॥
( मनु० ८-२८१ )

इसी मनुस्मृति में स्त्रीजाति के प्रति जैसे उद्गार प्रकट किये गये हैं और सती, सीता तथा सावित्री की उत्तराधिकारिणियों पर जो मिथ्यापवाद लगाये गये हैं। यदि आजकल कोई ऐसा करता तो हम उसका सिर कुचलने के लिए तय्यार होजाते। पर जैसे गङ्गा में मिलकर मैला भी पवित्र होजाता है, ऐसे ही धर्मशास्त्र में स्थान पाकर ऐसे मलिन विचार भी आज हिन्दुसमाज में किसी को नहीं खटकते। हम उनकी बानगी भी पाठकों को दिखलाते हैं:—

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥
शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥
नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥

तथाच श्रुतयो बह्वयो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥
यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ (१)

( मनु० अ० ९ प० १९-२० )

ये पवित्र उद्‌गार हैं जो हमारे इस प्रधान धर्मशास्त्र की शोभा को बढ़ा रहे हैं। इस दशा में बृहस्पति का यह लिखना कि मनु के विरुद्ध जो स्मृतियां हैं, उनका प्रमाण नहीं मानना चाहिये, ठीक नहीं। हमारे लिये सब ही ऋषि माननीय हैं, जिनके वचन मनु की ही बतलाई हुई चार कसौटियों के अनुकूल हैं वे चाहे मनु के हों, या वसिष्ठ के, याज्ञवल्क्य के हों, या पराशर के, हमारे लिये माननीय हैं। उनकी उपयुक्तता नाम से नहीं, किन्तु काम से देखी जायगी। यदि मनु के कोई सिद्धान्त काम से हमारे वर्त्तमान समाज के अनुकूल नहीं हैं, तो हम केवल मनु के नाम से उनको समाज में प्रतिष्ठित नहीं करा सकते। समाज धर्मशास्त्र के उन्हीं आदेशों का पालन कर सकता है, जो उसकी वर्त्तमान स्थिति और मर्यादा के प्रतिकूल न हों।

एक बात और ध्यान देने योग्य है, यदि मनु के ही नियम हमारे लिये पर्याप्त होते तो उनकी विद्यमानता में अन्य स्मृतियों की आवश्यकता ही क्या थी? फिर ये मनु के अतिरिक्त २० या २८ स्मृतियां क्यों बनाई गईं? इसी प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह भी होता है कि ख़ास कलियुग के लिये पराशर-स्मृति की रचना क्यों की गई? इस प्रश्न का उत्तर भी सिवाय इसके और क्या होसकता है कि जब समय के

(१) पाठकों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न न हो, इसलिए हमने इनका अनुवाद या इनपर कुछ टिप्पणी नहीं दी।

प्रभाव से सभ्यता का परिवर्त्तन हुआ, तब उस समय के देशकालज्ञ विद्वान् लोगों ने समाज में मनूक्त नियमों के पालन करने की क्षमता न देखकर ही समयानुसार सरल नियम बनाये और मनु के नियमों को कठिन समझकर ही उन्होंने कृतयुग के लिये रक्खा। जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में पराशर और माधव के लेखों से सिद्ध कर चुके हैं, उनको जाने दीजिये खुद बृहस्पति भी जिसके प्रमाण से मनु की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती है, कलियुग के लिये उसे अशक्य ठहराता है:—

उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेवतु।
युगह्रासादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः॥
तपोज्ञानसमायुक्ता कृतत्रेतादिके नराः।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिर्ये पुरातनैः।
अशक्यास्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥

(बृहस्पति स्मृति १४ । १२–१३–१४)

इन पद्यों में बृहस्पति स्पष्ट कहता है कि यदि कृतादि के धर्म कलियुग में अनुष्ठेय होते तो मनु नियोग का विधान करके स्वयं उसका निषेध न करता। कृतादि के लोगों में अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति थी, पर कलियुग के शक्तिहीन लोग वैसा नहीं कर सकते। इससे सिद्ध है कि नियोग आदि के द्वारा सन्तान उत्पन्न करना कृतादि के लिये था, कलियुग के लिए उन उपायों को उचित न समझकर ही ऋषियों ने पुनर्विवाह की आज्ञा दी है।

## मनुस्मृति में विधवाविवाह की आज्ञा।

चाहे मनुस्मृति का सम्बन्ध किसी युग से हो और चाहे उसके बहुत से धर्म इस समय हमारे लिये अशक्य हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें विधवाविवाह की स्पष्ट और अस-

न्दिग्ध आज्ञा है और उस आज्ञा का महत्त्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि उसमें नियोग के समान विधवाविवाह का कहीं निषेध नहीं है। देखिए !! अक्षतयोनि विधवाओं के पुनः संस्कार की मनु कितनी स्पष्टता से आज्ञा देता है:—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गत प्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥
(मनु० ९-१७६)

इसका अर्थ हम अपनी ओर से कुछ न करेंगे, किन्तु मनुस्मृति के पांचों प्रसिद्ध टीकाकारों ने जो इसका अर्थ किया है, उसीका अक्षरशः अनुवाद हम यहां पर उद्धृत कर देते हैं:—

सर्वज्ञनारायण—'पति ने संस्कार करके जिसको त्याग दिया हो या जिसको पिता ने किसी और के लिये देना स्वीकार किया हो और अपनी इच्छा से उसने किसी अन्य के साथ विवाह करलिया हो, पुनः वह उसको छोड़ कर पितानुमोदित वरके पास आवे। यदि उसका पति के साथ समागम न हुवा हो तो वह पौनर्भव पति के साथ पुनःसंस्कार के योग्य है।"

कुल्लूक-"वह स्त्री यदि अक्षतयोनि हो और अन्य का आश्रय करे तो पौनर्भव भर्त्ता के साथ पुनःसंस्कार करदेने योग्य है। यद्वा कुमारपति को छोड़कर अन्य का आश्रय करे और फिर उसी कुमार पति के पास आजावे तो उसके साथ उसका पुनःसंस्कार होना चाहिये।"

राघवानन्द—"जिस कुमार पति को छोड़कर गई हो, युवावस्था में फिर उसीके पास आवै या किसी दूसरे के पास जावे, दोनों के 'पुनर्भू' भर्त्ता होने से उसका पुनर्विवाह होसकता है। वा अव्यय से क्षतयोनि भी संस्कार के योग्य है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने क्षता और अक्षता दोनों प्रकार की

स्त्रियों का जो कामवासना से पति का त्याग करती हैं, पुनः संस्कार कहा है। ज्ञाति और धन के गर्व से जो स्त्री पति का त्याग करे उसे कुत्तों से नुचवाना चाहिये, पर जो काम के वेग से ऐसा करे वह क्षम्य है क्योंकि काम स्वाभाविक है।"

नन्दन—"पति के घर से गई हुई और फिर आई हुई स्त्री यदि अक्षतयोनि हो तो पुनर्भू पति के साथ संस्कार के योग्य है।"

रामचन्द्र—"वह पुनर्विवाह करनेवाली यदि अक्षतयोनि हो और पति के घर जाकर लौट आई हो तो वह पौनर्भव भर्त्ता के साथ पुनः संस्कार चाहती है।"

देखा पाठक! मनु के उक्त प्रमाण से अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह तो पाञ्चों टीकाकारों को सम्मत है। पर राघवानन्द वा अन्वय से क्षतियोनि विधवा का भी पुनर्विवाह सिद्ध करता है और अपने कथन की पुष्टि में याज्ञवल्क्य का प्रमाण उद्धृत करता है इसलिए उसकी सम्मति विशेष ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी दृष्टि में काम का वेग स्वाभाविक होने से दुर्धर्ष है, अतएव उसके कारण यदि कोई स्त्री पति का त्याग करती है तो वह क्षम्य है। पर जो अपने ज्ञाति एवं धन के गर्व से ऐसा करती है, उसे वह क्षमा नहीं करता। इससे अधिक स्पष्ट और विधवाविवाह का विधान क्या हो सकता है? इस पर भी जो लोग विधवाविवाह को मनुविरुद्ध कहते हैं उनके हठ और दुराग्रह का क्या ठिकाना है?

## विपक्षियों की शंकायें।

अच्छा अब हमारे विपक्षी इस पर क्या कहते हैं ज़रा उनकी भी तो सुननी चाहियेः—

पहला आक्षेप तो उनका यही है कि यह कलिवर्ज्य है। मनु ने कृतयुग के लिए विधवाविवाह या नियोग का विधान किया था, कलियुग से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है।

समीक्षा—जब सारी मनुस्मृति पराशर के वचनानुसार कृतयुग के लिये है तो यह कैसे हो सकता है कि उसमें प्रतिपादित केवल विधवाविवाह या नियोग का सम्बध तो कृतयुग से जोड़ा जाय और अन्य सारे धर्म कलियुग से लागू होजांय? मालूम नहीं कलियुग में और विधवाविवाह में वह कौनसा नाड़ीवेध है? जिस के कारण इनका कहीं भी साम्य नहीं होने पाता। यदि कृतयुग की स्मृति में इसका विधान आता है, तब तो इसके विपक्षी यह कहते हैं कि इसका कलियुग से कुछ सम्बंध ही नहीं। चाहे उस स्मृति की और सब बात कलियुग की सहचरी होजाय, पर उसकी छूत केवल विधवाविवाह को लगती है और यदि कलियुग की स्मृति में इसका विधान होता है, तब भी आश्चर्य है कि युगांतराय का फांसा इसी के ऊपर पड़ता है और यही कलिवर्ज्य कहकर वहां से भी हटाया जाता है। मानो कलियुगने और तो सब बातों का ठेका लिया हुवा है, पर इसकी नहीं पटती केवल विधवाविवाह से, इसलिए ख़ास कलियुग की स्मृति में विधान होते हुवे भी इसका बहिष्कार किया जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि इसको कलिवर्ज्य किसने ठहराया है? मनुस्मृति में तो कहीं नहीं लिखा कि यह कलिवर्ज्य है, न पराशर स्मृति में ही कहीं ऐसा उल्लेख है। फिर यह कलिवर्ज्य की कल्पना किसने की? इसका उत्तर यह है कि किसी २ पुराण में कुछ वचन ऐसे मिलते हैं, जिनमें बहुतसी और बातों के साथ विधवाविवाह को भी कलिवर्ज्य ठहराया

गया है, वे प्रमाण और उनकी सविस्तर आलोचना तो दूसरे अध्याय में की जायगी। यहां केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि पुराणों में जितनी बातें कलिवर्ज्य ठहराई गई हैं, यदि उन में से बहुत सी बातें कलियुग में मानीजाती हैं तो फिर केवल विधवाविवाह के लिए कलियुग का पचड़ा लगाना सिवाय हठ और दुराग्रह के और क्या होसकता है?

दूसरा आक्षेप यह है कि मनुने पौनर्भव भर्त्ताके साथ विधवाके पुनःसंस्कार की आज्ञा दी है। पौनर्भव वह है जो पुनर्भू स्त्री से उत्पन्न होता है, उसको मनुने दायाद नहीं माना और कश्यप ने पुनर्भू कन्याओं को अधम और विवाह के अयोग्य लिखा है। यथाः—

सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः।
वाचादत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला॥
उदकस्पर्शिता याच याच पाणिगृहीतका।
अग्निं परिगता याच पुनर्भू प्रभवा च या॥
(स्मृतितत्त्वधृत काश्यपवचन)

समीक्षा—इस आक्षेप में पुनर्विवाह की आज्ञा तो विपक्षियों को स्वीकृत है, पर वे इसलिए उसको अच्छा नहीं मानते कि कश्यप ने पुनर्भू स्त्री को अधम और विवाह के अयोग्य लिखा है, तथा मनु ने पौनर्भव पुत्र को दायभागी नहीं माना। कैसे आश्चर्य की बात है कि कन्या तो बिना विवाह के अपने मन और वाणी से नहीं, किन्तु दूसरों के मन और वाणी से दीहुई भी पुनर्भू मानी जाय, पर पुरुष स्वेच्छा और विषयवासनाकी तृप्ति के लिए तीन २ और चार २ विवाह करके भी स्वयम्भू बनारहे, इस अन्धेर का भी कुछ ठिकाना है? यदि पुनर्भू होना वास्तव में निन्दनीय है तो यह दोष स्त्री पुरुषों में समान है। जिस समाज या धर्म में आठ २ या दस २ वर्ष की अबोध

कन्यायें किसी स्वकृत अपराध के कारण नहीं, किन्तु समाज के अत्याचार और संरक्षकों के प्रमाद के कारण विवाह के अयोग्य समझी जावें, क्या वह समाज या धर्म बहुत दिन तक संसार में रह सकता है ? अब इस प्रकाश के युग में हम ऐसे अनर्गल वचनों से चाहे वे कश्यप के नाम से हों या भरद्वाज के ) उस अमानुषिक अत्याचार को जो स्त्रीजाति के प्रति किया जारहा है, बहुत दिनों तक जारी नहीं रख सकते। अच्छा, अब हमें जरा इस वाक्य की पड़ताल भी तो करने दीजिये।

इस वाक्य में जो सातप्रकार की पौनर्भव कन्या मानी गई हैं; वे सब अधम और विवाह के अयोग्य बतलाई गई हैं। पर आधुनिक हिन्दूसमाजमें पहली चारप्रकारकी कन्यायें, अर्थात् ( १ ) वाग्दत्ता ( २ ) मनोदत्ता ( ३ ) कृतकौतुक-मङ्गला ( ४ ) उदकस्पर्शिता, ये न तो पुनर्भू मानी जाती हैं और न उनका विवाह ही निषिद्ध समझा जाता है । जब चार बातों के लिए हिन्दूसमाजने कश्यप की आज्ञा को ताक़ में धर दिया, तब शेष तीन बातों के लिए भी वह बहुत दिन उसका अनुसरण करेगा, इसकी आशा नहीं है। इसके विरुद्ध नारद स्मृति में जो तीन प्रकार की पुनर्भू कन्या मानी गई हैं, उनके विवाह की नारद ने स्पष्ट आज्ञा दी है:—

> कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता ।
> पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा ॥
> कौमारं पतिमुत्सृज्य यात्वन्यं पुरुषं श्रिता ।
> पुनः पत्युर्गृहमियात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
> असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते ।
> सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥

( नारदस्मृति १२ । ४६-४७-४८ )

नारद के ही समान याज्ञवल्क्य भी पुनर्भू के विवाह की (चाहे वह क्षता हो वा अक्षता) स्पष्ट आज्ञा देता है:—

"अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः"। (३-६७)

पाठक! देखिये, इन दोनों में अर्थात् कश्यप और नारद में कितना अन्तर है? पहला तो वाणी और मन से दी हुई को भी विवाह के अयोग्य बतलाता है। दूसरा पति को छोड़कर अन्य का आश्रय लेने वाली के भी विवाह की आज्ञा देता है। बतलाइये!! अब हम किसकी आज्ञा को मानें? पर इसका निर्णय करने से पूर्व इस बात का ध्यान रहे कि यह कश्यप न तो याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट २० स्मृतिकारों में है और न इसकी कोई अन्य स्मृतिकार पुष्टि ही करता है। इसके विपरीत नारदस्मृति यही नहीं कि मनुस्मृति का सार है, किन्तु याज्ञवल्क्य जैसा प्रसिद्ध स्मृतिकार उसकी पुष्टि भी करता है।

अब रही यह बात कि मनु ने पौनर्भव पुत्र को दायाद नहीं माना है। प्रथम तो १२ प्रकार के पुत्र जो मनु ने वर्णन किये हैं, वे कलियुग के लिये नहीं हैं। हम बृहस्पति के प्रमाण से यह बात दिखला चुके हैं कि पूर्व युग के लोगों में अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति थी। कलियुग में उस शक्ति का ह्रास हो गया है और यही कारण है कि पराशर ने अपनी स्मृति में जो कलियुग के लिये बनाई गई है। केवल तीन ही प्रकार के पुत्रों का उल्लेख किया है। अतएव कलियुग में पुनर्विवाह से उत्पन्न सन्तान भी औरस ही मानी जाती है, जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि पुरुष पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, उसको कोई पौनर्भव नहीं कहता, किन्तु वह औरस कहलाती है। फिर कोई कारण नहीं है कि स्त्रियाँ पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करैं, वह औरस न कहलावे।

यदि हम उसको पौनर्भव भी मानलें, तब भी विपक्षियों का यह कहना कि मनुने पौनर्भव को दायाद नहीं माना, सर्वथा अयुक्त है। एक मनुने ही नहीं, किन्तु मनु, वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य इन तीनों प्रसिद्ध स्मृतिकारों ने पौनर्भव को केवल दायाद ही नहीं किन्तु पिण्डदाता भी मानाहै। देखो मनुस्मृति अ० ६ पद्य १८० और १८५ तथा वसिष्ठस्मृति अ० १७ प० १६ २०-२१ और याज्ञवल्क्यस्मृति अ० २ प० १२२।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यदि मनु कश्यप के समान पुनर्भू कन्या के विवाह को हीन या वर्जनीय मानता तो पुनः शब्द के साथ संस्कार शब्द का प्रयोग न करता। मनुने तथा अन्य स्मृतिकारोंने भी पुनर्विवाह के लिए निःशङ्क होकर संस्कार शब्द का प्रयोग किया है। अतएव पुनर्विवाह में दोष की कल्पना करना 'संस्कार' जैसे धार्मिक और पवित्र शब्द का अपमान करना है। यह बात दूसरी है कि प्रथम संस्कार की अपेक्षा पुनःसंस्कार कुछ उदास माना जावे। क्योंकि पहला विवाह चाहे पुरुष का हो या स्त्रीका, जिस इच्छा और उत्साह से किया जाता है, दूसरे में उसका नहोना स्वाभाविक ही है। पर बिना संस्कार के स्त्री पुरुषों का परस्पर सङ्गत होना या स्वाभाविक कामवृत्ति को चरितार्थ करना पशुधर्म है। इसलिए क्या शास्त्रमें और क्या शिष्ट लोगोंके आचार में दाम्पत्य के पवित्र सम्बन्ध को स्थापन करने से पूर्व संस्कार का होना आवश्यक माना गया है। जो लोग बालविधवाओं के लिए संस्कार को अनावश्यक समझते हैं, वे जानबूझकर उनको पशुधर्म में प्रवृत्ति दिलाते हैं। क्योंकि भय या दबाव से मनुष्य के स्वाभाविक वेग रोके नहीं जासकते, किन्तु रुके हुवे जलकी भाँति वे समाज में दुर्गन्ध फैलाने का कारण होते हैं।

## मनुवाक्यों का दुरुपयोग ।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि आखिर मनुस्मृति में विधवाविवाह के विरुद्ध वे कौनसे प्रमाण हैं, जिनपर इसके विपक्षी इतनी उछल कूद मचाते हैं । पहला प्रमाण उनकी ओर से यह दिया जाता है :—

> कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
> नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
> आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
> यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
> ( मनु ५।१५७-१५८ )

समीक्षा—इन पद्यों में मनुने उन स्त्रियों के लिए जो ब्रह्मचर्य धारण करके एकपत्नीव्रत का पालन करना चाहती हैं पत्यन्तर का निषेध किया है । इसको उन बालविधवाओं से लागू करना जो अभी यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते हैं और एकपत्नीधर्म क्या वस्तु है ? सर्वथा अनुचित और असंगत है । क्योंकि दूसरे पद्य के उत्तरार्ध में स्पष्ट कहा गया है कि जो एकपत्नी धर्मका पालन करना चाहती है, वह आजीवन ब्रह्मचर्य्य का पालन करे । हमारे इस कथन की पुष्टि मनु का भाष्यकार नन्दन भी करता है—जो नवें अध्यायके ७६ वें पद्य की टीका में स्पष्ट लिखता है :—

"यत्तु मृतभर्तृकाणां ब्रह्मचर्यवचनं तत्फलातिशयकामानाम् नान्यासामिति ।"

भावार्थ—"विधवाओं के लिए जो ब्रह्मचर्य की आज्ञा है, वह उन्हीं के लिये है, जो विशेष फलकी कामना करती हैं, न कि औरों के लिये ।"

इसी फलातिशय की कामना से बहुत से पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, तो क्या इससे उनका विवाह करने का अधि-

कार जातारहता है ? अतएव बालविधवायें तो एक तरफ, जो स्त्रियाँ संसार का सुख भोगना चाहती हैं और ब्रह्मचर्य में जिनकी निष्ठा नहीं है, उनके लिए भी ज़बर्दस्ती इस नियम को लागू बनाना न केवल उनके प्रति अन्याय है, अपितु इस पवित्र धर्म के महत्व को भी कम करना है। क्योंकि कैसाही कोई उत्तम धर्म हो, जो बलात् दूसरों के गले मढ़ाजाता है, उसकी श्रद्धा लोगों में फिर वैसी नहीं रहती, जैसी कि स्वेच्छापूर्वक पालन करने में। हां जो स्त्रियां अपने मनसे इसधर्म का पालन करना चाहती हैं और संसार के बड़े से बड़े प्रलोभन और उत्तेजन भी जिनको इससे विमुख नहीं करसकते, उनके लिए इससे बढ़कर और क्या धर्म होसकता है ?

दूसरा प्रमाण वे यह उपस्थित करते हैं :—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत्। ( मनु० ९—४७ )

समीक्षा—इस पद्य में कन्यादान का एक वार होना कहागया है। इसका विशेष विवरण तो पाठक दूसरे अध्याय में देखेंगे। यहाँ हम केवल इतनाही कहते हैं कि शास्त्र में यदि मातापिता को कन्यादान देने का अधिकार दियागया है तो प्रतिग्रहीता के अपात्र होने पर या न रहने पर उसके लौटाने काभी अधिकार दियागयाहै। देखो, याज्ञवल्क्य क्या,कहताहै:—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक्।
दत्तामपि हरेत्पूर्वां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्॥
( याज्ञवल्क्य अ० १ )

इस पद्यमें याज्ञवल्क्य ने कन्यादान का एकवार होना मानकर भी यदि पुनः श्रेष्ठ वर मिले तो दी हुई कन्या को लौटा लेने की आज्ञा दी है। ऐसी कन्या का पुनः दान करना वास्तव

में सकृद्दान ही है, क्योंकि ऐसी दशा में यह समझा जायगा कि पहला दान दान ही न था। देखो !! नारद १६ प्रकार के दानों को अदान मानता है:—

> अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः ।
> तथोत्कोचपरीहास व्यत्यासच्छलयोगतः ॥
> बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम् ।
> कर्त्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥
> अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये वाधर्मसंहिते ।
> यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम् ॥
>
> ( नारदस्मृति ४ । ९-१०-११

इन १६ प्रकार के दानों को नारद अदान मानता है, अर्थात् उक्त १६ दशाओं में जो दान किया जाताहै, वह वास्तव में दान ही नहीं है। कैसे आश्चर्य की बात है कि अन्य भौतिक दानों में यदि हमसे थोड़ी सी भी भूल हो जाती है, तो हम शास्त्र की भी कुछ परवा न करके उसका प्रतिशोध करने के लिए तयार होजाते हैं। पर इन अबोध कन्याओं के दान को शास्त्रमें उसके प्रतिशोध की आज्ञा होते हुवे भी अनिष्ट मान बैठते हैं।

तीसरा प्रमाण यह प्रस्तुत किया जाता है:—

> मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
> स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
> अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्त्तारमतिवर्तते ।
> सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
> नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
> न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥
>
> ( मनु० ५ । १६०-१६१-१६२ )

इन पद्यों में ब्रह्मचर्य का महत्व वर्णन किया गया है और उसकी आवश्यकता इसलिए हुई कि हिन्दू शास्त्रों में पुत्रके विना पितरों की गति नहीं मानी गई है, जैसा कि वसिष्ठ अपनी संहिता में लिखता है:—

"अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य गतिः श्रूयते।" (१७–२)

भावार्थ–"पुत्रवालोंके अनन्त लोक हैं, अपुत्र की गति वेद में नही सुनी जाती।"

यदि इस श्रुति पर जिसका वसिष्ठ ने संकेत किया है, विश्वास करके स्त्री परपुरुषसे और पुरुष परस्त्री से सन्तान उत्पन्न करने लगें तो समाजमें बड़ी गड़बड़ मच जाय और अपने पराये का कोई नियम न रहे। इस साङ्कर्य दोष को मिटाने लिए ही उनको ऐसा करने से रोका गया है। तभी तो अन्तिम पद्य में कहा गया है कि "अन्य से उत्पन्न सन्तान अपनी नहीं होती।" क्या पुरुष के लिए अपनी स्त्री और स्त्री के लिए अपना पति भी 'अन्य' कहला सकते हैं? यदि नहीं कहला सकते तो जिन स्त्री पुरुषोंने धर्म और क़ानून के मुताबिक़ अपना विवाह कर लिया है, वे कदापि 'अन्य' शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। जब विवाहिता युवती (चाहे पहले वह कुमारी रही हो या बिधवा) अब अपने पति की स्त्री है, तो उसके लिए उसका पति न तो 'अन्य' होसकता है और न दूसरा। पहले की अपेक्षा से दूसरा होता है, जब पहला ही नहीं तो दूसरा कहां? यदि विवाह होजाने पर भी स्त्री के लिए अपना पति अन्य या दूसरा कहा जायगा तो पुरुष की स्त्री भी (जिसने दूसरा विवाह किया है) उसके लिए अन्य और दूसरी होनी चाहिये। यदि कहो कि अन्तिम पद्य के उत्तरार्ध में केवल स्त्रियों के लिए ही दूसरे पति का निषेध किया गया है तो हम कब कहते हैं

कि जिस स्त्री का पति विद्यमान है, वह दूसरा पति करै। हमतो इतना और विशेष कहते हैं कि जिस पुरुष की स्त्री विद्यमान है, वह दूसरी स्त्री भी न करै।

चौथा प्रमाण यह रक्खाजाता है:—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु, नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ (मनु० अ० ६)

समीक्षा—यह पद्य नियोग प्रकरण का है, इसको विवाहसे सम्बद्ध करना भूल ही नहीं, किन्तु छल है। नियोग और पुनर्विवाह में बड़ा अन्तर है, जिसको हम दिखला चुके हैं। अतएव नियोग के खण्डन को पुनर्विवाह से लागू करना सरासर अनुचित है। जब पूर्व से नियोग का प्रकरण चला आरहा है और इस पद्य के पूर्वार्ध में भी स्पष्ट नियोग का शब्द विद्यमान है, तब उत्तरार्ध में "विधवावेदन" शब्द से विधवाविवाह का ग्रहण करना सर्वथा अयुक्त है। मेधातिथि 'वेदनम्' का अर्थ 'गमनम्' करता है। जिससे सिद्ध है कि यहां विना विवाह के विधवा से सम्बन्ध पैदा करने का नाम 'वेदन' है और यही नियोग का भी तात्पर्य है। इससे पूर्वार्ध को उत्तरार्ध के साथ सङ्गति भी मिलजाती है। क्योंकि जिस नियोग का विवाह के मन्त्रों में वर्णन नहीं है, वही विवाहविधि में भी अविहित होसकता है। यह नहीं होसकता कि मन्त्रों में तो नियोग वर्जित हो और विवाह की विधि में विधवाविवाह निषिद्ध हो। यदि उसको निषिद्ध माना जाय तो इस पद्य में वदतोव्याघात दोष आता है। विवाह विधि में विवाह काही निषेध, यह कभी होसकता है? अतएव विवाह के अतिरिक्त स्त्री पुरुष समागम के और जितने प्रसङ्ग हैं, उन्हीं का विवाह विधि में वर्जन होसकता है, नकि स्वयं विवाह का, चाहे वह

विधवा का हो या विपत्नीक का । अतः विधवाविवाह से इस पद्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

यदि थोड़ी देरके लिए हम विधवाविवाह से भी इसका सम्बन्ध मानलें, तब भी इससे विधवाविवाह का निषेध कहां होता है? किन्तु समयान्तर में विधान सिद्ध होता है। विवाह के समय कौन यह चाहता है कि स्त्री पुरुषों का परस्पर वियोग हो और पुनर्विवाह की आवश्यकता पड़े । सब यही चाहते हैं कि यह जोड़ी दीर्घायु हो और फले फूले। पर जब दैवात् एक को दूसरे का वियोग होजाता है, तभी पुनर्विवाह की आवश्यकता होती है। अतएव यह कहना कि विवाहविधि में अर्थात् विवाह के समय विधवा का पुनर्विवाह अनुक्त अर्थात् अनीप्सित है, युक्त ही है। जब विधवा होना ही कोई नहीं चाहता, तब उसके विवाह की तो कथा ही क्या है ?

पाठक ! उदाहृत मनुवचनों से कहांतक विधवाविवाह का खण्डन होता है, इसका न्याय हम आपके ऊपर ही छोड़ते हैं। यदि विपक्षियों की प्रसन्नता के लिये इनको निषेध परक भी मानलिया जाय, तब भी 'स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्'; इस आर्ष व्यवस्था के अनुसार श्रुति के विरुद्ध स्मृतिवचन आदरणीय नहीं होसकते। विधवाविवाह का श्रुति सम्मत होना वैदिक प्रकरण में हम प्रमाणित करचुके हैं।

## अन्य स्मृतियां और विधवाविवाह ।

अब हम विधवाविवाह की पुष्टि में कुछ अन्यस्मृतियों के प्रमाण भी उद्धृत करते हैं, जिनसे पाठकों को इसकी शास्त्रीयता और अपने पूर्वजों की देशकालज्ञता का परिचय मिलेगा। हम नारदस्मृति से आरम्भ करते हैं-पूर्व इसके कि हम नारद

के वचनों को उद्धृत करें, नारदस्मृति का कुछ परिचय पाठकों को देदेना चाहते हैं। नारदस्मृति के आरम्भ में ही लिखा है कि "स्वायम्भव मनु ने एक लाख पद्यों में मानव धर्मशास्त्र को बनाया। सबसे पहले नारद ने उसको बारह हज़ार पद्यों में, फिर मार्कण्डेय ने आठ हज़ार पद्यों में, पुनः भृगुने चार हज़ार पद्यों में उसे संक्षिप्त किया।" इस से सिद्ध है कि नारद भी भृगु के समान मनुस्मृति के संग्रहकारों में है।

एशियाटिक सोसायटी बंगाल की ओर से जो नारद्स्मृति की पुस्तक छपी है, उसकी भूमिका में, जो अंगरेज़ी में है, डाक्टर जूलियस जूली लिखते हैं:—

"ब्रिटिश म्यूज़ियम के मैनेजर मिस्टर बन्डल ने मुझे एक प्राचीन नारदस्मृति की पुस्तक दी थी, जो नैपाली अक्षरों में ताड़के पत्तों पर लिखी हुई थी। उसके प्रत्येक पद की समाप्ति में यह लिखा हुवा था। "इति मानवे धर्मशास्त्रे नारदप्रोक्तायां संहितायां अमुकप्रकरणं समाप्तम्" इससे भी नारद संहिता का मानवधर्मशास्त्र के अन्तर्गत होना सिद्ध होता है। यदि उसको स्वतन्त्र स्मृति भी माना जाय, तब भी उसका महत्व मनुस्मृति से कम नहीं होसकता और यह बात उसके महत्व को और भी बढ़ा देतीहै कि उसके प्रतिपादित धर्म मनु के समान कलिवर्ज्य नहीं हैं। अतएव नारद के वचन हमारे लिये विशेष आदरणीय हैं। नारद ने तीन प्रकार की पुनर्भू कन्याओं के विवाह का जो विधान किया है, उसको मनु के प्रकरण में हम दिखला चुके हैं। पराशर ने जिन पांच अवस्थाओं में पत्यन्तर का विधान किया है, वह नारद को भी सम्मत है:—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

( नारदस्मृति १२–९७ )

पुनः अक्षता विधवा के लिये नारद ने निम्नलिखित आज्ञा दी है:—

उद्वाहितापि या कन्या न चेत्संप्राप्तमैथुना ।
पुनःसंस्कार मर्हेत यथा कन्या तथैव सा ॥

( नारदस्मृति १२–३३ )

यहाँ तक कि नारद पति के प्रवास में प्रवास की अवधि नियत करता हुवा पत्यन्तर का विधान करता है:—

अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम् ।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत् ॥
क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूतासमात्रयम् ।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत् ॥
न शूद्रायाः स्मृतः काल एषप्रोषितयोषिताम् ।
जीवति श्रूयमाणेतु स्यादेष द्विगुणोऽवधिः ॥

( नारदस्मृति १२ । ९८–९९–१०० )

इसी आशय का एक पद्य मनुस्मृति में भी है:—

प्रोषितो धर्मकामार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थे वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥

( मनु० ९–७६ )

इसपर विपक्षी यह कहते हैं कि मनु ने इसमें पत्यन्तरका विधान कहाँ किया है ? केवल यह कहा है कि इतने काल तक प्रतीक्षा करे, इसके बाद क्या करे ? यह कुछ नहीं कहा । मनु के भाष्यकारों में कुल्लूक और सर्वज्ञनारायण तो इसका यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "इसके बाद वह पति के पास चली जावे । पर नन्दन इसके भाष्य में स्पष्ट लिखता है–"ऊर्ध्वं भर्त्र-

न्तरपरिग्रहे न दोषः।" इनमें से प्रथम दोनों टीकाकारों का मत युक्ति और प्रमाण से शून्य है। क्योंकि जब स्त्री को कुछ मालूम ही नहीं कि पति जीवित है या नहीं? यदि जीवित है तो कहां है, क्या करता है? इस दशा में उसका पति के समीप जाना कैसा? पर नन्दन का अभिप्राय जहां युक्तियुक्त है, वहां उसकी पुष्टि में नारद का उक्त प्रमाण भी मौजूद है, जो स्पष्ट ही कहता है कि "परतोऽन्यं समाश्रयेत्"

यह तो हुई प्रवास की बात, अब पति के नपुंसक अथवा अयोग्य होने पर नारद ने स्त्री के लिए जो आज्ञा दी है, उसको भी सुन लीजिए:—

ईर्ष्याषण्ढादयो ये च चत्वारः समुदाहृताः।
त्यक्तव्यास्ते पतितवत्क्षतयोन्या अपि स्त्रियाः॥
आक्षिप्तमोघबीजाभ्यां कृतेऽपि पतिकर्मणि।
पतिरन्यः स्मृतो नार्या वत्सरार्धं प्रतीक्ष्य तु॥
अन्यस्या यो मनुष्यः स्यादमनुष्यः स्वयोषिति।
लभते सान्यभर्तारं एतत्कार्यं प्रजापतेः॥
अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति॥

( नारदस्मृति १२। १६–१७–१८–१९ )

इन पद्यों में नारद केवल नपुंसक पति को ही त्याग कर स्त्री को पत्यन्तर करने की आज्ञा नहीं देता, किन्तु व्यभिचारी और उद्दण्ड पति को भी त्यागकर अन्य पति करने का परामर्श देता है। भला जो उदारचेता हमारे पूर्वज पति की जीवितावस्था में भी कई दशाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा दे गये हैं, उनसे यह कब होसकता था कि वे पति के मरने पर आजीवन इनको वैधव्य की भट्टी में जलता हुवा देखें और चुप बैठे रहें।

## शातातप ।

अब ज़रा शातातप की भी सम्मति सुन लीजिए:—

वरश्चेत्कुलशीला यां न युज्येत कदाचन ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत् ॥
समाच्छिद्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥

( पराशरभाष्योद्धृत शातातपवचन )

शातातप के उक्त पद्यों का अभिप्राय यह है कि यदि अयोग्य वर को कन्या दान करदी गई हो तो न मन्त्र कारण होसकते हैं और न कन्यात्व ही निवृत्त हो सकता है। ऐसी कन्या को बलपूर्वक अयोग्य वर से छीनकर योग्य पुरुष को दे देना चाहिए। पाठक इससे अधिक और स्पष्ट आज्ञा क्या होसकती है ? शोक कि शास्त्रों में इतना स्पष्ट विधान होने पर भी विपक्षी इसको शास्त्र विरुद्ध कहने का साहस करते हैं।

## कात्यायन ।

अब ज़रा कात्यायन की भी सम्मति सुन लीजिये:—

वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा ।
ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेत् वरम् ॥
सतु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोपि वा ।
ऊढापि देया सान्यस्मै सहावरणभूषणा ।

( पराशरभाष्योद्धृत कात्यायनवचन )

पराशर और नारदने तो पांच ही अवस्थाओं में पत्यन्तरकी आज्ञा दी है, परन्तु कात्यायन सात दशाओं में पुनर्विवाह की आज्ञा देता है (१) यदि पति विजातीय हो (२) पतित हो (३) नपुंसक हो (४) दुराचारी हो (५) सगोत्र हो (६)

हास हो और (७) चिररोगी हो, तो व्याही हुई भी कन्या वस्त्राभूषण सहित दूसरे को देदेनी चाहिये। पाठक अब आप न्याय कीजिए कि इस से अधिक विधवाविवाह की पुष्टि और क्या होसकती है? माधव भी पराशर भाष्य में शातातप और कात्यायन के उक्तवचनों को उद्धृत करता हुवा लिखता है:—

"यद्यपि शातातप और कात्यायन आदि ऋषियों ने पत्यन्तर का विधान किया है तथापि युगान्तरीय होने से वह उपेक्षणीय है।"

माधव के इस प्रलाप की पड़ताल हम पराशर स्मृति के प्रकरण में करचुके हैं।

## वसिष्ट।

अब हम वसिष्ठस्मृति के कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं। वाग्दान और जलदान के अनन्तर जो वसिष्ठ ने पुनर्विवाह की आज्ञा दी है, उसका उल्लेख तो मनु के प्रकरण में हम कर-चुके हैं। अब पति के मरने पर अक्षता कन्या के लिये वसिष्ठ ने जो आज्ञा दी है, उसको लिखते हैं:—

पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
साचेदक्षतयोनिः स्यात् पुनःसंस्कारमर्हति॥
(वसिष्ठस्मृति १७।७४)

इस पद्य में वसिष्ठ ने पति के मरजाने पर बालविधवा के पुनः संस्कार की आज्ञा दी है। अब जीवितावस्था में भी वसिष्ठ की सम्मति सुन लीजिये:—

कुलशीलविहीनस्य पण्डस्य पतितस्यच।
अपस्मारि विधर्मस्य रोगिणो वेशधारिणः।
दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैवच॥
(स्मृतितत्त्वधृतवसिष्ठवचन)

वसिष्ठ भी कात्यायन के समान उक्त दशाओं में दी हुई कन्या को छीन लेने की अनुमति देता है। जब अनेक स्मृतिकार दान की हुई कन्या को भी उक्त दशाओं में लौटाने की आज्ञा देते हैं, तब उसका पुनर्दान करने में माता, पिता और सम्बंधियों को कुछ आपत्ति न होनी चाहिये।

## याज्ञवल्क्य।

याज्ञवल्क्य ने श्रेष्ठ वर की उपलब्धि में दी हुई कन्याको पूर्ववर से छीन लेने की जो अनुमति दी हैं, उसको हम मनुके प्रकरण में उद्धृत करचुके हैं। अब जिस वाक्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ने क्षता और अक्षता दोनों प्रकार की कन्याओं के पुनर्विवाह की आज्ञा दी है जिसको मनुके भाष्यकार राघवानंद ने "साचेदक्षतयोनिःस्यात्" मनुके इस पद्य की टीका में उद्धृत किया है, उसको हम लिखते हैं :—

> अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।
> स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्।
> ( याज्ञवल्क्य० १—६७ )

इस पद्य में याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू को (चाहे वह क्षता हो वा अक्षता) पुनः संस्कार के योग्य माना है और जो बिना संस्कार के दूसरे का आश्रय लेती है, उसको स्वैरिणी मानाहै। इससे सिद्ध है कि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पुनर्भू से स्वैरिणी भिन्न है। अन्यथा वह स्वैरिणी से उसको पृथक् न करता। आगे चलकर याज्ञवल्क्य व्यवहाराध्याय के ऋणादान प्रकरण में उत्तरपति को पूर्वपति के ऋण का दायी ठहराता है :—

> रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैवच।
> पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः॥
> ( याज्ञवल्क्य० २—५१ )

अंशग्राही स्त्रीग्राही और पुत्र इन तीनपर मृत पुरुषके ऋण का दायित्व है, यदि पुत्र न हो तो अंशग्राही और स्त्रीग्राही उस का ऋण चुकावें। यदि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में विधवा विवाह अवैध होता तो वह पूर्वपति के ऋणका भार उत्तर पतिपर क्यों रखता? क्या अवैध सन्तान पर भी पिता के ऋण का भार होता है? यदि नहीं होता तो फिर अवैध उत्तर पति को याज्ञवल्क्य ने क्यों पूर्वपति का ऋणदायी ठहराया?

## विष्णु

अक्षता के पुनःसंस्कार की विष्णु भी आज्ञा देता है:—

अक्षता भूयःसंस्कृता पुनर्भूः (विष्णुस्मृति अ० १५)

विष्णुस्मृति की केशव वैजयन्ती नाम्नी टीका में इसकी व्याख्या करता हुवा नंद पण्डित लिखता है–"अक्षता संस्कार-मात्रदूषिता पुनःसंस्कृता चेत्पुनर्भूः"। "केवल संस्कार से दूषित अक्षता पुनःसंस्कार की हुई पुनर्भू है।"

## बोधायन।

अब हम बोधायन की सम्मति और लिखकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं:—

निसृष्टो वा हतो वापि यस्या भर्त्ता म्रियेत वा।
साचेदक्षत योनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन विधिना पुनःसंस्कारमर्हति॥

(बोधायनस्मृति ४-१-१७)

बोधायन भी न केवल पति के मरने पर किन्तु निर्वासित होने पर भी अक्षता कन्या के पुनःसंस्कार की आज्ञा देता है।

पाठक! आपने देखलिया कि उक्त स्मृतिकारों ने किस उदारता और पितृवत्सलता से बालविधवाओं के पुनःसंस्कार की आज्ञा दी है। यदि यह आज्ञा किसी अंशमें सन्दिग्ध भी

होती तौ भी न्याय यह कहता है कि उस सन्देह का लाभ इन अवाक् और निरपराध बालविधवाओं को मिलना चाहिये था। पर शास्त्रप्रवर्तक ऋषि महर्षियों की ऐसी असन्दिग्ध और स्पष्ट आज्ञा के होते हुवे भी उन्हीं ऋषियों की सन्तान आज अपनी बहनों और पुत्रियों के मानुषिक और स्वाभाविक स्वत्वों को कैसी अमनुष्योचित निर्दयता के साथ पैरों के नीचे कुचल रही है। हमारी समझमें नहीं आता कि जो लोग अपने आत्मीयों के साथ धर्मके नामपर ऐसा निष्ठुर आचार जारी रख सकते हैं, वे आकाश पाताल एक करने पर भी कभी अपने को स्वायत्त शासन का अधिकारी सिद्ध कर सकेंगे?

## अन्य प्रमाण।

अब हम कुछ ऋषियों के प्रमाण "सनातन धर्म" नामक पुस्तक में से जो स्वर्गीय डाक्टर मुकन्दलाल आगरा निवासी ने अपनी विधवा पुत्री का विवाह करने के निमित्त संग्रह की थी, उद्धृत करते हैं। उक्त डाक्टर महोदय ने ये प्रमाण दीवान बहादुर पं० रघुनाथ राव की पुस्तक से संग्रहीत किये हैं। *

पराशर।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

अत्रि।

नष्टे संन्यासमापन्ने व्याधिग्रस्ते च भर्त्तरि।
पुनः स्त्रीणां विवाहः स्यात्कलावपि न संशयः॥

गौतम।

मरणानन्तरं भर्त्तुर्यत्वनाहतयोनयः।
स्त्रियो विवाहमर्हन्ति नात्र कार्या विचारणा॥

---

* खेद है कि मूल पुस्तक खोज करने पर भी हमको न मिली।

वैशंपायन।

पुरुषाणामिव स्त्रीणां विवाहा बहवो मताः।
भर्तृनाशे पुनः स्त्रीणां पुंसां पत्नीलये यथा॥

कश्यप।

आषोड़श व ो नार्यो यदिता मृतभर्तृका।
पुनर्विवाहमर्हन्ति न तत्र विशयो भवेत्॥

जाबालि।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः स्वकुलयोषिताम्।
पुनर्विवाहं कुर्वीरन्नन्यथा पापसम्भवः॥

अगस्त्य।

भर्त्रभावे वयः स्त्रीणां पुनः परिणयोमतः।
न तत्र पापं नारीणामन्यथा तद्दुर्गतिर्नहि॥

व्याघ्रपात्।

पत्निनाशे यथा पुंसो भर्तृनाशे तथा स्त्रियाः।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यः कलावपि युगे तथा॥

वसिष्ठ।

भर्तृसम्बन्धशून्यानां भर्तृनाशेतु योषिताम्।
पुनर्विवाहं कुर्वीत पापं नैव मनागपि॥

बृहस्पति।

अज्ञातभर्तृसम्बन्धा भवन्ति यदि योषितः।
गतप्रिया यदा तासां पुनः परिणयो भवेत्॥

विश्वामित्र।

अस्पृष्टलिङ्गयोनीनामाविंशति वयः स्त्रियाः।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यश्चतुर्ष्वपि युगेष्वपि॥

नारद।

उद्वाहितापि या कन्या नचेत्संप्राप्त मैथुना।
पुनःसंस्कारमर्हेत्र यथा कन्या तथैव सा॥

च्यवन।

पूर्वं निषेकान्नारीणां मृते पत्यौ ततः परम्।
दशाब्दाभ्यन्तरे कुर्याद्विवाहन्तु पुनः पिता॥

मार्कण्डेय।

निषेकानन्तरं स्त्रीणां भर्त्तुर्भर्तृत्वमुच्यते।
पाणिग्रहणमात्रेण न भर्त्ता सर्वयोषिताम्॥

याज्ञवल्क्य।

आगर्भधारणात्स्त्रीणां पुनः परिणयः स्मृतः।
भर्त्तृनाशेतु माङ्गल्यं प्राप्नुमर्हन्ति योषितः॥

शौनक।

गर्भाधानविहीनानां स्त्रीणां कर्माधिकारिता।
भर्त्तृणां विषयेष्वेव म्रियमाणेषु तेष्वपि॥

## पुराण और विधवाविवाह।

पुराणों का विस्तार बहुत बड़ा है। यह एक ऐसा सघन वन और अथाह समुद्र है कि इसमें ढूंढने वाले को सभीप्रकार की सामग्री मिल सकती है। पर हमारे पाठक अब ऊब गये होंगे, इसलिए अब हम इस विषय को बढ़ाना नहीं चाहते और न इसकी आवश्यकता ही समझते हैं। कतिपय प्रसिद्ध प्रमाण और उदाहरण देकर ही इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

## ब्रह्मपुराण।

यदि सा बालविधवा बलात्यक्ताऽथवा क्वचित।
तदा भूयस्तु संस्कार्या गृहीत्वा येन केनचित॥

( वीरमित्रोदयधृत ब्रह्मपुराणवचन )

देखिए पाठक!! ब्रह्मपुराण के इस पद्य में बालविधवाही नहीं, किन्तु बलपूर्वक पतिसे त्याग की हुई स्त्री के भी पुनः संस्कार की कितनी स्पष्ट आज्ञा दीगई है।

## अग्निपुराण ।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।
देवराय मृते देया तदभावे यथेच्छया ॥
( अग्निपुराण अध्याय १५४ )

अग्निपुराण के उक्त वचन में भी पराशरोक्त पांच दशाओं में पुनर्विवाह की आज्ञा दीगई है और इतना विशेष है कि पति के मरजाने पर देवर को देनी चाहिये, उसके अभाव में यथेच्छ किसी अन्य को।

## पद्मपुराण ।

विवाहो जायते भजन् कन्यायास्तु विधानतः ।
पतिर्मृतस्तु प्रयात्यस्या नोचसङ्गं करोत च ॥
महाव्याधिरभिग्रस्तश्च त्यक्त्वा कृत्वा प्रयाति वा ।
उद्वाहितायां कन्यायामुद्वाहः क्रियते बुधैः ॥
( पद्मपुराण भूमिखण्ड अ० ८५ )

पद्मपुराण के इन पद्यों में कितनी स्पष्टता से विधवा विवाह का विधान कियागया है, न केवल पति के मरने पर किन्तु रोगग्रस्त और प्रवासित होने पर भी। इसीप्रकार स्मृतियों के अन्यवचन भी कहीं उसी रूप में कहीं कुछ पाठभेद के साथ पुराणों में आते हैं, विस्तारभय से हम यहां उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं। अब हम एक प्रमाण तन्त्रशास्त्र का भी उद्धृत करके इस विषय को समाप्त करते हैं।

## महानिर्वाणतन्त्र ।

षण्ढेनो द्वाहिता कन्यां कालातीतेऽपि पार्थिवः ।
जानन्नुद्वाहयेद्भूयो विधिरेषः शिवोदितः ॥
परिणीता न रमिता कन्यका विधवा भवेत् ।
सापुनरुद्वाह्या पुनः पित्रा शैवधर्मेष्वयं विधिः ॥
( महानिर्वाण तन्त्र उल्लास ११ पद्य ६६—६७ )

पाठक! तन्त्रशास्त्र में महानिर्वाणतन्त्र प्रधान मानाजाता है। उसके उक्त वचनों में पति के नपुंसक होने अथवा मरजाने पर स्त्रीके लिए पुनर्विवाह की आज्ञा दीगई है। नपुंसक होने की दशा में राजा को और पति के मरजाने पर पिता को जो विवाह कराने का अधिकार दिया गया है, उसका कारण यह है कि यदि पतिके नपुंसक होनेपर भी पिता को अधिकार दिया जाता तो पति आपत्ति करसकता था। न्यायालय से परीक्षा होकर जब यह सिद्ध होजायगा कि वह विवाह करने के अयोग्य है, तब उसका कोई दावा नहीं चल सकता।

## ऐतिहासिक उदाहरण।

अब हम कुछ ऐतिहासिक उदाहरण देकर पहले अध्याय को समाप्त करते हैं। पहला उदाहरण अर्जुन और उलोपी के पुनर्विवाह का है, जिसका वर्णन महाभारत के भीष्म पर्व में इस प्रकार किया गया है:—

अर्जुनस्यात्मजः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥
ऐरावतेन सादत्ता ह्यनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥

( महाभारत भीष्मपर्व अ० ९१ )

इससे सिद्ध है कि नागराज ऐरावत ने अपनी विधवापुत्री का जिसके पति को सुपर्ण ने युद्ध में मारडाला था, अर्जुन के साथ विवाह किया था और उससे अर्जुन का इरावान् नाम पुत्र उत्पन्न हुवा, जिसको इसी अध्याय के ८२ पद्य में औरस पुत्र लिखा है। यदि विधवाविवाह अधर्म और अशास्त्रीय होता तो अर्जुन जो देवव्रत भीष्म का पौत्र, धर्म-रक्षक भगवान् कृष्ण का सखा और धर्मावतार युधिष्ठिर का

आता था कदापि उसके करने का साहस न करता और न भगवान् व्यास इगवान् को अर्जुन का औरस पुत्र लिखते।

दूसरा उदाहरण राजा नल की पत्नी दमयन्ती के स्वयंवर का है, जिसका वर्णन महाभारत के वनपर्व में इस प्रकार किया गया है:—

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम्।
ऋतुपर्ण वचो ब्रूहि मम्पतन्निव कामगः॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम्।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते सभविष्यति।
यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम॥

(महाभारत वनपर्व ७० । २३–२४–२५)

इसपर विधवाविवाह के विपक्षी शायद यह कहें कि दमयन्ती के पुनः स्वयम्वर की घोषणा पुनर्विवाह के लिये न थी, किन्तु नल को प्राप्त करने की एक चाल थी। फिर इस उदाहरण को पुनर्विवाह की पुष्टि में क्यों प्रस्तुत किया जाता है? यह ठीक है कि राजा भीम ने दमयन्ती का स्वयंवर इसी उद्देश्य से रचा था। पर स्वयंवर का रचा जाना और उसमें देश के अनेक राजाओं का यह जानते हुवे कि दमयन्ती का यह दूसरा स्वयंवर है, सम्मिलित होना, इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उस समय विवाहिता स्त्रियों के पुनर्विवाह की रीति समाज में प्रचलित थी। यदि यह रीति द्विजों में प्रचलित न होती तो राजा भीम जैसे क्षत्रियवर्य अपनी सन्तान वाली पुत्री के लिए ऐसे गर्हित और शास्त्रविरुद्ध उपाय को कभी काममें न लाते और न राजा ऋतुपर्ण जैसे धर्मात्मा जो मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के वंशज थे, इस धर्मविरुद्ध समारम्भ में न केवल दर्शक होकर किन्तु वर बनने की आशा से सम्मि-

लित होते। क्योंकि जितने भी राजपुत्र इस स्वयंवर में निमन्त्रित होकर आये थे, वे सब इसको सच्चा स्वयंवर ही समझकर आये थे और यह बात भी किसी से छिपी हुई न थी कि दमयन्ती का यह दूसरा स्वयंवर है और वह सन्तान वाली है इससे सिद्ध है कि उस समय केवल पति के मरने पर ही नहीं किन्तु प्रवासित होने पर भी द्विजों में पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

तीसरा उदाहरण सप्तद्वीप के राजा चित्रोपाख्य की पुत्री दिव्यादेवी का है, जिसका विवाह उसके पिता ने ब्राह्मणों की अनुमति से २१ वार किया। दैव दुर्विपाक से लगातार उसके पति मरते गये। २१वें पति के मरजाने पर भी उसने साहस नहीं छोड़ा और उसका स्वयंवर रच डाला। आखिर उसके पौरुष के सामने दैव को ही हार माननी पड़ी।

( देखो पद्मपुराण भूमिखण्ड अध्याय ८५ )

चौथा उदाहरण पतिव्रताओं में शिरोमणि तारा का है, जिसने अङ्गद पुत्र के होते हुवे सुग्रीव के साथ जो श्रीरामचन्द्र महाराज का अनन्यभक्त और सखा था, पुनर्विवाह किया। यदि पुनर्विवाह अवैध होता तो क्या सुग्रीव आज हिन्दूसमाज में भक्तशिरोमणि और तारा पतिव्रताओं में मुख्य पञ्च कन्याओं में मानी जाती। ( देखो वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३३ )

पांचवां उदाहरण मालवे के एक गृहस्थ ब्राह्मण का है, जिसने अपनी पुत्री का विवाह उत्तरोत्तर दस पतियों के साथ किया. पुत्री के दौर्भाग्य से वे सब मरते गये, तब वह निराश होगया। एक दिन एक रूपवान् युवा पुरुष उसका अतिथि हुवा, इस युवा अतिथि को देखकर उसकी पुत्री इसपर आसक्त

होगई। तब उसने पिता से इस ग्यारहवें पति के साथ विवाह कर देने के लिये कहा। पिता ने उसको समझाया कि तेरा भाग्य अच्छा नहीं है, अब तू विवाह का नाम मतले. पुत्री ने नहीं माना और विवाह के लिए आग्रह किया, तब लाचार होकर पिता ने यह ग्यारहवां विवाह भी कर दिया। विवाह के पश्चात् उसका यह ग्यारहवां पति भी मृत्यु का ग्रास हुआ। इसके पश्चात् वह बारहवां विवाह और भी करती, पर लज्जा के मारे अब उसका साहस न हुआ और वह योगिनी बनगई।

( देखो कथासरित्सागर तरङ्ग ६६ )

सम्भव है कि तीसरा और पांचवा उदाहरण दैववादियों को यह विश्वास दिलाने के लिए दिया गया हो कि भाग्य के सामने पुरुषार्थ की कुछ नहीं चलती। चाहे किसी उद्देश्य से पद्मपुराण और कथासरित्सागर में इनका उल्लेख कियागया हो, पर इनसे यह तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि भाग्यवादियों ने भी पुरुषार्थ की यथासमय परीक्षा की है, चाहे उसमें सफलता हुई हो वा न हुई हो।

छठा उदाहरण मेवाड़ के प्रसिद्ध राना हम्मीर का है; जिसने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की सेना को परास्त करके चित्तौड़ पर पुनः अपना अधिकार जमाया था। इस प्रतापी राना ने सरदार मालदेव की ( जो बादशाह की ओर से चित्तौड़ का शासक नियत किया गया था ) विधवा पुत्री से अपना विवाह किया। यद्यपि यह विवाह मालदेव ने राना को धोखा देकर उसके साथ किया, तथापि पीछे राना को मालूम होजाने पर उसने उसका अस्वीकार नहीं किया और मालदेव की वह विधवा कन्या राना की प्रियपत्नी हुई और उसी की सहायता से राजा ने चित्तौड़ का मालदेव के हाथ से

उद्धार किया । (देखो टाडराजस्थान का सार शिवप्रतलालकृत पृ० ६४-६५-६६ )

सातवां उदाहरण परशुराम भाऊ पटवर्धन का है । ये महाराष्ट्र के कुलीन ब्राह्मण थे, इनकी कन्या ८ वर्ष की उमर में विधवा होगई । इन्होंने राज पण्डित रामशास्त्री से व्यवस्था लेकर एक कुलीन ब्राह्मणके साथ उसका पुनर्विवाह करदिया ।

( देखो महाराष्ट्र का इतिहास )

इत्यादि अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक उदाहरण विधवाविवाह की पुष्टि में मौजूद हैं ।

# दूसरा अध्याय।

## आक्षेप और उनका समाधान।

### शास्त्र के आधार पर किये जाने वाले आक्षेप।

अब हम उन आक्षेपों की कुछ पड़ताल करना चाहते हैं जो विधवा विवाह के विपक्षी इसके विरुद्ध किया करते हैं और यह देखना चाहते हैं कि उनके आक्षेप और तर्क कहां तक युक्ति और शास्त्र के अनुकूल हैं? वे आक्षेप दो प्रकार के हैं एक तो वे जो शास्त्र के आधार पर किये जाते हैं, दूसरे वे जो युक्ति वा रूढ़ि का आश्रय लेकर किये जाते हैं। पहले हम शास्त्र की आड़ लेकर किये जाने वाले आक्षेपों की जांच करेंगे उस आक्षेप का ( जिसके द्वारा वे इसको शास्त्रविरुद्ध बतला-कर सर्वसाधारण की शास्त्र पर श्रद्धाका अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं ) समाधान हम पहले अध्याय में सप्रमाण और सविस्तर कर चुके हैं। अब अन्य आक्षेप जो उनकी ओर से किये जाते हैं, उनकी बानगी भी पाठकों को दिखलाते हैं।

### कलियुग का पचड़ा।

पहला आक्षेप उनका यह है कि चाहे अन्य युगों में विधवा विवाह निषिद्ध नहो, पर कलियुग में उसका निषेध होने से वह निन्दनीय है। जब उनसे पूछा जाता है कि इसको कलि-निषिद्ध किसने ठहराया है? तब वे बृहन्नारदीयपुराण के निम्नलिखित वचन प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं:—

समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलु विधारणम्।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा॥

देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः।
मांसादनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा॥
दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ॥
महाप्रस्थान गमनं गोमेधञ्च तथा मखम्।
इमान्धर्मान्कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥
(पराशरभाष्योद्धृत बृहन्नारदीय पुराणवचन)

इसीसे मिलती जुलती एक सूची आदित्यपुराण में भी दी गई है और माधव ने पराशर भाष्य में निम्नलिखित क्रतु का वचन भी उद्धृत किया है:—

देवराच्च सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या न दीयते।
न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः॥

समीक्षा—यह स्मृति और पुराण का विरोध नहीं कहला सकता। क्योंकि "दीहुई वस्तु का पुनर्दान नहीं करना चाहिए यह सामान्य आज्ञा है जिसको उत्सर्ग कहते हैं। यदि इसका कोई अपवाद न हो तो निःसन्देह यह आज्ञा पालनीय है। परन्तु इस सामान्य आज्ञा से यह समझना कि यह सब दशाओं में निरपवाद और निरवकाश है, भारी भूल है। यदि ऐसा होता तो नारद अपनी स्मृति में इसके १६ अपवाद न लिखता और याज्ञवल्क्य तथा शातातप आदि स्मृतिकार दान की हुई कन्या को अयोग्य वर से छीनकर योग्यवर को पुनर्दान करने की व्यवस्था न देते। जैसाकि हम पूर्व अध्याय में दिखलाचुके हैं।

लोक और शास्त्र दोनों में विधि और निषेध के अपवाद होते हैं, उनको छोड़कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। लोक में—जैसे किसी ने कहा कि "नित्य व्यायाम करना चाहिए" इसका यह अर्थ नहीं है कि जब हमारा शरीर अस्वस्थ हो, तब भी हमारे लिये व्यायाम आवश्यक है ऐसे ही यदि कोई

किसी से कहे कि 'किसी पर कभी हाथ न चलाओ" तो इसका यह आशय कदापि नहीं होसकता कि हम आततायी का भी निवारण न करें। इसी प्रकार शास्त्र की आज्ञा है "सत्यं ब्रूयात्" इसीका अपवाद उसमें मौजूद है। "नब्रूयात्सत्यमप्रियम्" तथा शास्त्र में निषेध किया गया है। "माहिंस्यात्सर्वाणि भूतानि" इसका अपवाद भी उसी शास्त्र में मौजूद है। "अश्वमेधेन यजेत, पशुना रुद्रं यजेत।" इत्यादि

अतएव इन पुराण वचनों में जो बातें कलिनिषिद्ध कही गई हैं, यदि इससमय उनका कोई अपवाद न हो तब तो उनके मानने में कोई आपत्ति नहीं है। जैसे कि मधुपर्क में पशु का मारना, नरमेध, गोमेध और अश्वमेध यज्ञ, श्राद्ध में मांस भोजन, नियोग और महाप्रस्थान। ये बातें चाहे पूर्वकाल में यहां बुरी न समझी जाती हों और कहीं कहीं प्रचलित भी हों, पर आजकल की हिन्दूसभ्यता कदापि इनका अनुमोदन नहीं करसकती। यदि इनका किसी शास्त्र में विधान भी हो तो भी आजकल की स्थिति में इनका प्रचार अवाञ्छनीय है और हम समझते हैं कि इसीलिए इनको कलिवर्ज्य कहकर इनसे हमारा पिण्ड छुड़ाया गया है। पर समुद्रयात्रा, संन्यासधारण, वानप्रस्थाश्रम, असवर्णविवाह, पुनर्विवाह और दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य, इनको भी उसी सूची में शामिल करना, चाहे उस समय की स्थिति के विरुद्ध न हो, पर आजकल की परिस्थिति में किसी जाति को इनसे रोकना उसकी जड़ पर कुल्हाड़ा मारना है और यही कारण है कि कहीं कहीं इनका आंशिक निषेध होते हुवे भी ये आजतक वर्जित न होसके और न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब शास्त्रों में ही इनके अनेक अपवाद भी विद्यमान हैं, तथा लोकाचार भी इनका पोषण

करता है, तब कलिवर्ज्य कहकर इनको निषिद्ध ठहराना शास्त्र का केवल दुरुपयोग करना है।

दूसरे यदि हम इन पुराण वचनों के अनुसार विधवाविवाह को कलिवर्ज्य मान भी लें तब भी जब श्रुति और स्मृतियों में उसका प्रतिपादन किया गया है, जैसा कि पहले अध्याय में दिखलाया जाचुका है। उसके मुक़ाबले में इन एक या दो पुराण वचनों का कुछ मूल्य नहीं होसकता, यह बात हम नहीं कहते, किन्तु अष्टादश पुराणों के कर्ता व्यासजी महाराज महाभारत में स्वयं इसकी व्यवस्था देते हैंः—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते ।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा ॥

अतएव इस आर्षव्यवस्था के अनुसार ही श्रुति स्मृति प्रतिपादित विधवाविवाह के निषेध में ऐसे वचन कदापि पर्याप्त नहीं होसकते।

तीसरे अच्छा अब हम यह भी देखना चाहते हैं कि जिन आचारों को इन पुराणवचनों में कलिनिषिद्ध ठहराया गया है, कलियुग के आरम्भ से लेकर अबतक इस देश के कुलीन और द्विज लोगों ने कहां तक उनको अपने आचरण में वर्जित किया है।

प्रथम अश्वमेध हीको लीजिये—पाण्डवों का जो कलियुगारम्भ होने के ६५० वर्ष बाद हुवे, अश्वमेध यज्ञ और उसके लिए दिग्विजय करना एक ऐसी प्रसिद्ध बात है कि महाभारत से लेकर अनेक पुराणों तक में इसका सविस्तर वर्णन किया गया है। यदि वह कलिवर्ज्य था तो क्यों युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा ने इसका अनुष्ठान और कृष्ण जैसे महात्मा ने इसका अनुमोदन किया? क्या ये लोग धर्मशास्त्र की आज्ञा से अनभिज्ञ थे?

इनको भी जाने दीजिए। राजा शूद्रक ने जो विक्रमादित्य से कुछ पहले हुआ है. अश्वमेध हो नहीं, किन्तु महाप्रस्थान भी किया:—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ॥
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥

( देखो मृच्छकटिक नाटक की प्रस्तावना )

इस लेख के अनुसार राजा शूद्रकने एक ही नहीं, किन्तु अश्वमेध और महाप्रस्थान दो कलिवर्ज्य आचारों का अनुष्ठान किया। और भी देखिए, कटक के राजा प्रवरसेन ने चार बार अश्वमेध किया:—

"चतुरश्वमेध याजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राजः काठकानां राज्ञः श्री प्रवरसेनस्य" ( जनरल एशियाटिक सोसाइटी नवेम्बर १८७६ पृ० ७२८ )

कौन नहीं जानता कि भगवान् बुद्ध के पहले यहां सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ होते थे और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वैदिक यज्ञ और उनकी हिंसा ही यहां बौद्धमत की उत्पत्ति और प्रचार का कारण हुई। तो क्या ये सब राजे महाराजे तथा ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग, जिन्होंने कलियुग में अश्वमेध यज्ञ किये वा कराये, शास्त्र से अनभिज्ञ और पापभागी थे ? कदापि नहीं, ऐसा कहना मूर्खता और पाप है।

दूसरे अब समुद्र यात्रा को लीजिए, यह भी यहाँ न पहले वर्जित थी और न अब। वैदिक काल में यहां अनेक प्रकार के पोत युद्ध और व्यापार के लिए चलते थे, जिनका वर्णन ऋग्वेद के कई सूक्तों में शतारित्रा और खरित्रा आदि नामों से आया है। इसको भी जाने दीजिए, काश्मीर के राजा मिहिर

कुल ने सिंहलद्वीप ( लंका ) के राजा की पुत्री से विवाह किया था और उसकी चोली में उसके पिता का पादचिन्ह देख कर वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपनी सेना लेकर समुद्र मार्ग से लंका पर चढ़ गया।

इसका वर्णन राजतरङ्गिणी के प्रथम तरङ्ग में इस प्रकार किया गया है:—

सजातु देवीं संवीतसिंहलांशुककञ्चुकाम्।
हेमपादाङ्कितकुचां दृष्ट्वा जज्वाल मन्युना॥
सिंहलेषु नरेन्द्राङ्घ्रिमुद्राङ्कः क्रियते पटः।
इति कञ्चुकिना पृष्ठो नीतो यात्रां व्यधात्ततः॥
स सिंहलेन्द्रेण समं संरम्भादुदपाटयत्।
चिरेण चरणस्पृष्टप्रियाशोकरुजां रुषम्॥
( राजतरंगिणी १। २९६-२९७-२९८ )

इसके पश्चात् काश्मीर के दूसरे राजा जयापीड़ ने जलपोत द्वारा पश्चिम और दक्षिण समुद्रों में ससैन्य यात्रा की थी, इसका वर्णन राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में सविस्तर दिया हुआ है। यदि समुद्रयात्रा कलिवर्ज्य होती तो ये नृपगण विदेशोंमें क्यों जाते? दूर क्यों जाते हो, अबतक हजारों लाखों उच्च कुलाभिमानी हिन्दू जगन्नाथ, रामेश्वर और द्वारिका के दर्शनार्थ समुद्रयात्रा करते हैं, उनसे कोई नहीं कहता कि तुम यह शास्त्रविरुद्ध आचार क्यों करते हो? प्रत्युत ऐसे लोग हिन्दू समाज में बड़े धर्मात्मा समझे जाते हैं। अभी थोड़े दिन की बात है, हिन्दू धर्म रक्षक श्रीमान् महाराजा जयपुर अपने पण्डितों और पुरोहितों को भी साथ लेकर यूरोप की यात्रा कर आये थे और स्वर्गीय श्रीमान् पं० बालगंगाधर तिलक भी जो सनातनधर्म के भूषण थे, मृत्युसे कुछ दिन पूर्व यूरूप की

यात्रा कर आये थे। क्या इन लोगों का यह काम शास्त्र विरुद्ध था?

तीसरे असवर्ण विवाह को भी कलिवर्ज्य की सूची में रक्खा है। यद्यपि स्मृतियों में और पुराणों में भी सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ माना गया है तथापि असवर्ण विवाह का विधान उनमें बराबर मौजूद है। अनुलोम विवाह की तो सब स्मृतिकार एक स्वर से पुष्टि करते हैं, पर पुराणों में कहीं २ प्रतिलोम विवाह के भी उदाहरण मिलजाते हैं। दूर क्यों जाते हो, राजा 'भरत' जिसके नाम से इस देश का नामकरण 'भारत' हुवा है इसी प्रतिलोम विवाह का फल था। सब जानते हैं कि कण्व पुत्री शकुन्तला ब्राह्मणी और भरत का पिता दुष्मन्त क्षत्रिय था। रहा रिवाज और कानून की बात, सो ये दोनों समाज के हाथ में हैं। समाज अपनी दशा के अनुसार सदा रिवाज चलाता और कानून बनाता है। रिवाज और कानून के अनुकूल न होते हुवे भी हिन्दू अब धड़ाधड़ असवर्ण विवाह कर रहे हैं भारतीय कौंसिल में भी डाक्टर गौड़ का बिल पास होचुका है, तो क्या इसकी प्रगति को अब हम कालवर्ज्य कहकर रोक सकते हैं? विद्वान जब पूर्वकाल में भी जबकि हमारा जातीय क्षेत्र बहुत ही संकुचित था और अन्य जातियों से विशेष सम्बन्ध न था, हम विजातीयों के संसर्ग से न बच सके और हमको विवश होकर आर्य और द्विजों के संघ (जिनमें क्रमशः चार और तीन वर्ण शामिल हैं) बनाने पड़े, तो क्या अब इस विक्रम के बीसवें शतक में, जबकि जातियां परस्पर मिलकर राष्ट्र और महाराष्ट्र बनारही हैं, हम स्वदेश बान्धवों को भी अपना मित्र न बना सकेंगे?

चौथे अब रहा दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य। कौन नहीं जानता कि देवव्रत भीष्म ने जो कलियुग में हुवे, आजन्म ब्रह्मचर्य्य धारण किया। क्या भीष्म जैसे धर्मप्रवक्ता से यह आशा की आसकती थी कि उन्होंने जानबूझकर शास्त्र की आज्ञा का उपमर्द किया? इसके अतिरिक्त पुराणों और इतिहासों में शतशः कुमार और कुमारियों का वर्णन आता है, जिन्होंने दीर्घकाल की तो कथा ही क्या है? आजन्म ब्रह्मचर्य्य धारण किया। कौन नहीं जानता कि सनत्कुमार, शुकदेव और दत्तात्रेय आजन्म ब्रह्मचारी रहे। पुरुष तो पुरुष स्त्रियाँ भी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। महाभारत में सुलभा ब्रह्मचारिणी का वर्णन है, जो राजा जनक से कहती है:—

साहं तस्मिन्कुले जाता भर्त्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥
(शान्तिपर्व अ० ३२१)

इनको भी जाने दीजिये, राजा सुवस्तु ने श्रीहर्ष नामक जो शिव का मन्दिर वैक्रम संवत् १०१८ में बनवाया था, उसके पत्थर में यह पद्य खुदा हुवा है:—

आजन्म ब्रह्मचारी दिगमलवसनः संयतात्मा तपस्वी
श्रीहर्षाराधनैकव्यसनशुभमतिस्त्यक्त संसारमोहः।
आसीद्यो लब्धजन्मा नवतरवपुषां सत्तमः श्रीसुवस्तु-
स्तेनेदं धर्मवित्तैः सुघटितविकटं कारितं हर्षहर्म्यम्॥
(जनरलएशियाटिकसोसाइटी जुलाई १८३५ पृ० ३७८)

इससे प्रकट है कि विक्रम की दसवीं शताब्दी तक यहां न केवल ब्राह्मण लोग, किन्तु राष्ट्रपति क्षत्रिय लोग भी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करते थे। आजकल भी बहुत से नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं, जो हिन्दूसमाज में बड़े पवित्र और श्रेष्ठ समझे जाते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो लोग

शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करें, वे ही हिन्दूसमाज में पुनीत और श्रेष्ठ समझे जायें ?

इसके अतिरिक्त यह कैसी विचित्र बात है कि इधर तो कलियुग में दीर्घकाल के ब्रह्मचर्य का निषेध किया जाता है, उधर विधवाविवाह भी कलिनिषिद्ध ठहराया जाता है। अब बतलाइये, कलियुगमें विचारी विधवायें क्याकरें? यदि कहोकि पतिका अनुगमन करें। प्रथम तो इसमें शास्त्रों का मतभेदहै, कोई शास्त्र इसकी आज्ञा देते हैं और कोई निषेध करते हैं। यदि हम विरोध की उपेक्षा करके यही मानलें कि सब शास्त्र अनुगमन की आज्ञा देते हैं, तो भी जब यह राजनियम के विरुद्ध है, तब हज़ार शास्त्र की आज्ञा होते हुवे भी हम इनका पालन करने में सर्वथा असमर्थ हैं। कैसी विचित्र समस्या है ? शास्त्र तो इनको ब्रह्मचर्य और विवाह दोनों से रोकता है, राजनियम इनको मरने से रोकता है। पाठक ! अब आप ही बतलाइये कि वह चौथी कौनसी गति है ? जिसका ये निरपराध बालविधवायें अवलम्बन करके अपने दुःसह जीवन को व्यतीत करें।

यदि स्वर्ग से साक्षात् देवगुरु बृहस्पति भी आकर किसी से यह कहें कि तुम्हारे लिए एक ही समय में ब्रह्मचर्य और विवाह दोनों बातें निषिद्ध हैं, तो उनकी इस बातपर लोग हंसे बिना न रहेंगे और कहेंगे कि इनका मन स्वस्थ और बुद्धि ठिकाने नहीं है। पर कैसे आश्चर्य का स्थान है कि आज डारविन के विकासवाद और स्पेन्सर के अज्ञेयवाद को चुटकियों में उड़ाने वाले, ऐसे परस्पर विरुद्ध और उन्मत्तजल्पित प्रमाणाभासों के आधार पर लाखों बालविधवाओं के जीवन को कण्टकाकीर्ण बनारहे हैं। अतएव न्याय और विवेक दोनों यह कहते हैं कि इस कलिवर्ज्य की सूची में से एक को अवश्य

निकालना पड़ेगा। यदि विधवा विवाह को इस सूची में रखना चाहते हैं तो ब्रह्मचर्य को इससे पृथक् करना होगा और यदि ब्रह्मचर्य को इसमें रखना चाहते हैं, तो विधवा-विवाह को इसमें से अलग करना होगा। यह कदापि नहीं होसकता कि ये दोनों एक साथ इस सूची में रहसकें। क्योंकि ब्रह्मचर्य के निषेध से विवाह और विवाह के निषेध से ब्रह्मचर्य का विधान स्वयमेव होजाता है।

पांचवां संन्यास भी कलिवर्ज्य की सूची में रक्खागया है। अब प्रश्न यह है कि इन पुराण वचनों के अनुसार यदि संन्यास का धारण करना कलियुग में निषिद्ध है तो सब से पहिले वैदिकधर्म के प्रवर्त्तक भगवान् आदि शङ्कराचार्यने जिनकी लोकोत्तर विद्वत्ता और योग्यता का सब हिन्दू परम आदर करते हैं, क्यों संन्यास धारण किया? क्या श्री १०८ स्वामी शंकराचार्य कलियुग में नहीं हुवे और फिर आजतक उनकी इस शास्त्रविरुद्ध परिपाटी का उनके उत्तराधिकारी चारों मठों के आचार्य और उनकी अनेक शाखायें क्यों अनुसरण करती हैं? अनन्तर पश्चात् श्रीस्वामी रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, विद्यारण्य, परमहंसस्वामी रामकृष्ण, स्वामी तैलङ्ग, स्वामी भास्करानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द आदि अनेक गण्य मान्य पुरुषों ने इस शास्त्रविरुद्ध आचार का क्यों आजीवन पालन किया? क्या ये महात्मा कलियुग में नहीं हुवे? यदि हुवे हैं तो इन्होंने क्यों कलिवर्ज्य आचार को ग्रहण करके पुराण के इन वचनों का अनादर किया?

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दू शास्त्र के अनुसार केवल ब्राह्मण ही संन्यास लेने के अधिकारी हैं। आजतक जितने प्रसिद्ध संन्यासी हुवे हैं, वे सब ब्राह्मण थे।

ब्राह्मणों का काम प्रत्येक युग में धर्म की मर्यादा को स्थापन करना है, नकि तोड़ना। परन्तु यह आश्चर्य्य की बात है कि कलियुग में निषिद्ध संन्यास को धारण करके सब से पहले पूज्य ब्राह्मणों ने ही धर्म की मर्यादा को तोड़ा, फिर अन्य वर्ण उसका पालन कैसे कर सकते हैं?

अब हम विधवाविवाह को कलिवर्ज्य कहने वालों से पूछ सकते हैं कि जब आप लोगों ने इन पुराणोक्त कलिनिषिद्ध आचारों को कलियुग के लिए न केवल स्वीकार किया है, किन्तु धर्म का अङ्ग मानलिया है, तब एक विधवाविवाह ने ही ऐसा क्या अपराध किया है कि जिसकी सब से अधिक आवश्यकता होते हुवे भी आप अभी तक वही कलिवर्ज्य का राग अलापे जाते हैं। हम यह नहीं कहते कि आप विधवा-विवाहपर कुछ दया या रिआयत करें, पर यहकहाँ का न्याय है कि जिस क़ानून में एक साथ चार बातें निषिद्ध ठहराईगई हैं, उनमें से दो को तो आप अलग करदें और दो के लिए उस क़ानून को लागू रक्खें। यदि उस क़ानून को आप आवश्यक समझते हैं, तो जिन बातों का उसमें निषेध कियागया है, उन सब के लिए उसका प्रयोग होना चाहिए। अन्यथा यदि एक बात के लिएभी आप उसे ढीला करदेंगे तो फिर दूसरी बातों के लिए वह स्वयं ढीला पड़जायगा।

## विवाह की छूत।

दूसरा आक्षेप यह कियाजाता है कि शास्त्रों में पुरुष को ऐसी कन्या के साथ विवाह करने की आज्ञा दीगई है, जो विवाहिता न हो। इस पर विपक्षी याज्ञवल्क्य का यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥

( याज्ञवल्क्यस्मृति १।५२ )

समीक्षा—याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारों ने विवाह से पहले वर और कन्या को परीक्षा करना लिखा है। यदि हम लोग इसपर ध्यान देते तो आज हमारे गृहस्थाश्रम की यह दुर्दशा न होती। पर हमने तो शपथ ली हुई है कि अच्छी बातों के लिए शास्त्र की निर्विवाद आज्ञा भी न मानेंगे। पर बालविधवाओं का जीवन व्यर्थ बनाने में हम अर्थ का अनर्थ करने में भी त्रुटि नहीं करेंगे। याज्ञवल्क्य ने प्रस्तुत पद्य में उस ब्रह्मचारी को जिसका ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट नहीं हुवा है, कुमारी से विवाह करने की आज्ञा दी है, इस से सिद्ध है कि वह पुरुष जिसका ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग होचुका है, याज्ञवल्क्य की दृष्टि में कदापि कुमारी के साथ विवाह करने का अधिकारी नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यह वाक्य उन बालविधवाओं के विरुद्ध प्रस्तुत कियाजाता है, जो यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते हैं और विवाह क्या वस्तु है? पर इसके द्वारा एक ६० वर्ष का बूढ़ा जो चार कुमारियों की भेंट लेचुका है, पाँचवीं कुमारी से विवाह करने का अपना अनिवार्य स्वत्व समझता है। यदि इसके अनुसार कन्याओं के लिए विवाह की छूत मानी जाये तो पुरुष भी कदापि उस छूत से न बच सकेंगे। क्योंकि इसमें जहां कन्या के लिए 'अनन्यपूर्विका' विशेषण दियागया है, वहां पुरुष को भी 'अविप्लुतब्रह्मचर्य' के विशेषण से अलंकृत कियागया है। यदि भ्रष्ट ब्रह्मचर्यों का विवाह और वह भी कुमारी कन्याओं के साथ इसके विरुद्ध नहीं, तो ऐसी बालविधवाओं के विवाह को जिनका ब्रह्मचर्य

भी सुरक्षित है, ब्रह्मा भी इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं करसकता। शास्त्रकारों ने विवाह से पहले जहां कन्या की परीक्षा करना लिखा है, वहां वर को भी इससे मुक्त नहीं किया। देखो आगे चलकर याज्ञवल्क्य ही वर की परीक्षा के विषय में क्या लिखता है :—

> एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
> यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः॥
> ( याज्ञवल्क्य० १।५५ )

इस पद्य में याज्ञवल्क्य स्पष्ट लिखता है कि उन्हीं गुणों से जो स्त्री में होने चाहियें, वर भी युक्त हो। अतएव याज्ञवल्क्य का उक्त पद्य केवल कुमारों को कुमारी से विवाह करने की आज्ञा देता है। इस धींगाधींगोको तो देखिए !! आज वे लोग जो अपने ब्रह्मचर्य को नष्ट करके कुमारियों का पाणिग्रहण करते हैं, इसको विधवाविवाह के खण्डन में प्रस्तुत करते हैं, क्या इससे अधिक और कोई इस वचन का अनर्थ हो सकता है ? याज्ञवल्क्य के इस कथन की पुष्टि बोधायन भी करताहैः—

> अनुनशीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने देया।
> ( स्मृतितत्त्वधृतबोधायनवचन )

इसी की व्याख्या में "स्मृतितत्व" प्रणेता पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य जो वङ्गदेश में स्मृतिशास्त्र के अन्यतम विद्वान् हुवे हैं, लिखते हैं :—

"ब्रह्मचारिणे अजातस्त्रीसंपर्काय, जातस्त्रीसंपर्कस्य द्वितीयविवाहे विवाहाष्टकबहिर्भावापत्तेस्तदुपादानं प्राशस्त्यार्थमिति।"

उक्त बोधायन वाक्य की व्याख्या करता हुवा रघुनन्दन स्पष्ट लिखता है कि "जिस पुरुष का स्त्री के साथ संपर्क नहीं हुवा है, वही कुमारी कन्या का अधिकारी है, तदितर का

विवाह आठ विवाहों के बहिर्गत होने से अप्रशस्त है।" अतएव इस न्याय से भी उसी विधवा का विवाह अप्रशस्त और आठ विवाहों के बहिर्भूत होसकता है, जिसका ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग होचुका है नकि ब्रह्मचारिणी का।

पाठक! अब आप न्याय कीजिए, जब याज्ञवल्क्य और बोधायन दोनों स्मृतिकार केवल ब्रह्मचारी को कुमारी से विवाह करने की आज्ञा देते हैं तो फिर ये दुहेजिये और तिहेजिये जो कुमारी कन्याओं पर टूटते हैं क्या यह शास्त्र की आज्ञा का उपमर्द नहीं है? पुरुष तो खुल्लम खुल्ला शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन और ब्रह्मचारियोंके स्वत्वका अपहरण करते हुवे शास्त्र की अनुयायिता का दम भरें, पर विचारी विधवायें सर्वथा शास्त्र की आज्ञा को पालती हुई और कभी भूलकर भी अपनी कुमारी बहनों के स्वत्व पर आघात न करती हुई, केवल उन पुरुषों से विवाह करने में भी जो शास्त्र की आज्ञानुसार कुमारी को ग्रहण करने के कदापि अधिकारी नहीं हैं, पापिनी और शास्त्र की मर्यादा को तोड़ने वाली समझीजांय? उनके लिए बुढ़ापे मेंभी विवाह की रोक न हो और इनके लिए बालकपन में ही उसकी छूत मानोजाय? भगवन्! जिस समाज में शास्त्र का ऐसा अनर्थपूर्ण दुरुपयोग कियाजाय, उसकी रक्षा उसको सुमति प्रदान कर आपही कर सकते हैं।

## विवाह की विधि।

तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि विधवाविवाह शास्त्रसम्मत होता, तो शास्त्र में उसकी स्वतंत्र विधि भी वर्णन कीगई होती। जोकि शास्त्र में उसकी कोई पृथक् विधि नहीं है, अतएव वह अवैध है।

समीक्षा-यदि विधवाओं के पुनर्विवाह की शास्त्रमें कोई पृथक् विधि नहीं है तो रण्डुओं के पुनर्विवाह की भी शास्त्र में कोई विधि नहीं है। यदि रण्डुवों का पुनर्विवाह विवाह की विधि और मन्त्रों से किया जासकता है तो फिर विधवाओं के पुनर्विवाह में वे मन्त्र और विधि क्यों पर्याप्त नहीं? क्या उन मन्त्रों और विधि में कहीं यह लिखा है कि ६० वर्ष के बूढ़े बाबा का चौथा या पांचवां विवाह तो इनके अनुकूल है, पर आठ वर्ष की विधवा कन्या का दूसरा विवाह इनके प्रतिकूल? मन्त्र और विधि में स्त्री पुरुषों के लिए कुछ भेद नहीं होसकता। विवाह के जो मन्त्र और विधान जिस दशा में पुरुषों के लिए वैध हैं, उसी दशा में वे स्त्रियों के लिए अवैध कदापि नहीं होसकते। जब प्रायः शास्त्रकार स्त्रियों के पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं और उसको संस्कार भी मानते हैं जो बिना मन्त्रोच्चारण के हो नहीं सकता, तब विवाह से पृथक् उसको कल्पना करना विपक्षियों की कितनी बड़ी संकीर्णता है। आश्चर्य तो यह है कि यह कल्पना केवल स्त्रियों के पुनर्विवाह के लिए की जाती है, पुरुषों के लिए कभी स्वप्नमें भी इसका उदय नहीं होता। पर जब शास्त्रों में दोनों के लिए एक ही मन्त्र और विधि है, तब इस निर्मूल कल्पना से उनको कुछ लाभ नहीं पहुंच सकता। इसपर विपक्षी मनु का निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥
(मनुस्मृति ८। २२६)

समीक्षा—मनु इस पद्य में अकन्याओं के लिए पाणिग्रहण मन्त्रों का निषेध करता है, न कि विधवाओं के लिए। पर हमारे भाइयों को तो साहित्य में जितने बुरे शब्द हैं, वे सब

विधवा के ही पर्याय दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव जहां कहीं अकन्या. स्वैरिणी, दुर्भगा, पतिघ्नी आदि शब्द आते हैं, वे विना आगा पीछा देखे, झट विधवा का अर्थ करने लगते हैं। वाह!! कैसी कृतघ्नता है, जिन विधवाओं ने अपने अलौकिक आत्मत्याग, तप और सहिष्णुता से हिन्दू धर्म की लाज रक्खी हुई है और जो अपने प्राण देकर भी इनकी कल्पित मानमर्यादा की रक्षा करती हैं. उनकी लोकोत्तर सेवाओं का यह कैसा अच्छा पुरस्कार है। अस्तु मनु का इस पद्य में 'अकन्या' शब्द से क्या तात्पर्य है? इसपर हमको किसी अन्य प्रमाण के देने की आवश्यकता नहीं, जबकि इससे पहले पद्य में मनु ने स्वयं ही अपने आशय को स्पष्ट करदिया है:—

> अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
> सशतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥ (८। २२५)

इस पद्य की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखता है। "जो द्वेष से कन्या को अकन्या कहता है, अर्थात् उसपर व्यभिचार का दोष लगाता है, वह यदि उसके दोष को सिद्ध न करसके तो सौपणों से दण्डनीय है।"

क्या अब भी इसमें किसी को सन्देह होसकता है कि मनु का तात्पर्य 'अकन्या' शब्द से उस स्त्री का है, जो विवाह से पहले व्यभिचारिणी होचुकी है, ऐसी स्त्रियों के लिए मनु निःसन्देह पाणिग्रहण मन्त्रों का निषेध करता है। सो यह चाहे इस दशामें जबकि व्यभिचारी पुरुष ब्रह्मचारिणी कन्याओं के साथ विवाह करते हैं, अन्याय युक्त हो। पर यदि पुरुष ऐसा अनर्थ न करैं तो कोई इसे अनुचित नहीं कहसकता। क्योंकि स्त्री हो वा पुरुष जो विना विवाह के अपनी कामचेष्टा को चरितार्थ करता है, वह पापी और व्यभिचारी है और अपने

विवाह के पवित्र अधिकार को खो बैठना है। इसीलिए उक्त पद्य में उनको "लुप्तधर्मक्रियाः" का विशेषण दिया गया है। क्या उन आठ या दस वर्ष की बालविधवाओं को जो पति और विवाह के तात्पर्य को भी नहीं जानतीं, कट्टर से कट्टर दुराग्रही भी यह विशेषण देने का साहस करसकता है? अतएव प्रस्तुत पद्य में मनु व्यभिचारिणी स्त्रियों के विवाह का निषेध करता है, नकि शास्त्रकी आज्ञानुसार गृहस्थ धर्म का पालन करने की इच्छा से विधवाओं के पाणिग्रहण का।

इसके अतिरिक्त हमारी न्यायशीला गवर्नमेन्ट ने भी हिन्दू धर्मशास्त्रों की सम्मति से जो विधवाविवाह एक्ट सन् १८५६ में पास किया हैं, उसकी छटी धारामें स्पष्ट लिखा है कि 'जो मन्त्र और विधान हिन्दू स्त्रियों के प्रथम विवाह में पढ़े या किये जाते हैं, वे ही यदि हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह में भी बरते जावेंगे तो वह विवाह क़ानूनन जायज़ समझाजायगा।" इससे अधिक सन्तोषदायक और क्या प्रमाण होसकता है?

## 'कन्या' शब्द का निर्वचन।

चौथा आक्षेप यह कियाजाता है कि सब शास्त्रों में कन्या का ही दान या विवाह कहा गया है और कन्या वह है, जो किसी के साथ ब्याही नहीं गई और न किसी को दान दीगई है। फिर वे स्त्रियां जिनका विवाह होचुका है और दान की जाचुकी हैं, न तो कन्या ही कहला सकती हैं और न उनका पुनर्दान ही होसकता है?

समीक्षा—पूर्व इसके कि इस प्रश्न का उत्तर दियाजावे, 'कन्या' शब्दका निर्वचन करना उचित जानपड़ता है "कन्यायाः कनीन च" इस पाणिनीय सूत्र (४-१-११६) के भाष्य में महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं:—

"कन्या शब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके संप्रयोगे निवर्तते।"

इससे सिद्ध है कि विवाह होजाने पर भी जबतक पुरुष संयोग न हो, कन्यात्व निवृत्त नहीं होता। यह तो महाभाष्यकार की सम्मति है, पर जब हम संस्कृतसाहित्य को देखते हैं, तो उसमें 'कन्या' शब्द सामान्य रीतिपर दुहिता=पुत्री के लिए प्रयुक्त होता है, चाहे वह विवाहिता हो या अविवाहिता। साहित्य के अनेक स्थलों में विवाहिता के लिए भी 'कन्या' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसाकि कवि सम्राट् कालिदास अपने निर्मित कुमारसम्भव और रघुवंश काव्यों में लिखते हैं:—

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्ट देहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥

(कुमारसम्भव सर्ग १ प० २१)

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः सदृप्तः॥

(रघुवंश सर्ग ७ प० ३५)

इन दोनों पद्यों में कालिदास ने विवाहिता सती और इन्दुमती के लिये क्रमशः 'कन्या' शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त रामायण में सीता को प्रायः "जनकतनया" और महाभारत में द्रौपदी को 'द्रुपदकन्या' उनके अन्तिम समय तक कहा गया है। लोक में भी राजपुत्री को 'राजकन्या' ब्राह्मण पुत्री को ब्राह्मणकन्या' और गुरुपुत्री को 'गुरुकन्या' चाहे वे विवाहिता हों या अविवाहिता, कहने की बराबर चाल है।

इनप्रमाणों से सिद्ध है कि 'कन्या' शब्द केवल कुमारी काही वाचक नहीं, किन्तु वह कुमारी और विवाहिता दोनों के लिए प्रयुक्त होता है और बालविधवाओं के लिए तो नारद, वसिष्ठ और कात्यायन आदि सभी स्मृतिकारों ने निःसङ्कोच होकर इस शब्द का प्रयोग किया है, जैसा कि हम पहले अध्याय में दिखला चुके हैं। अतएव सब शास्त्रों के अनुसार बालविधवा

का दान या विवाह कन्या काही दान या विवाह है। जो बाल-विधवाओं को कन्या नहीं मानते, या उनको अकन्या कहते हैं, वे महापापी हैं और मनुकी व्यवस्था के अनुसार दण्डनीय हैं।

## कन्यादान।

पाचवाँ आक्षेप यह किया जाता है कि एक वार कन्यादान करके पुनः उसका दान करना शास्त्रविरुद्ध है, जैसा कि मनु ने कहा हैः—

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम्॥ (मनु० ६। ७१)

जब माता पिता वा किसी सगोत्र ने एकवार कन्यादान करके किसी को देदी, तब उसमें उनका स्वत्व नहीं रहा, फिर वे पुनः उसको कैसे दान कर सकते हैं?

समीक्षा-कन्यादान को भी और दानों की भांति समझना यह एक ऐसी भूल या भ्रान्ति है, जो हम से बड़े २ पाप और अनर्थ कराती है और इससे शास्त्रों की अवज्ञा भी होती है। यद्यपि शास्त्रों में औपचारिक रीति पर कन्या के लिए भी दान का शब्द आता है, तथापि उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जिस प्रकार अन्य स्थावर या जङ्गम सम्पत्ति का दान किया जाता है, वैसा ही कन्यादान को भी समझाजाय। कन्या दान के विशिष्ट दान होने में निम्नलिखित कारण हैंः—

प्रथम जिसकी जो वस्तु है, वही उसको दान कर सकता है, अन्य किसी को उसके दान करने का अधिकार ही नहीं, जैसाकि मनु लिखता हैः—

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः सतु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः॥ (मनु० ८। १६६)

मनु की इस आज्ञा के अनुसार जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं है, वह न उसका दान करसकता है और न विक्रय। पर

कन्यादान के विषय में यह बात नहीं है। शास्त्र की आज्ञानुसार माता पिता के अभाव में उसे बान्धव और ज्ञाति के लोग भी दान करसकते हैं।

यदि कन्यादानभी और दानोंके समान होता तो मातापिता के सिवाय अन्य को उसके दान करने का अधिकार न था, कन्यादान अड़ौसी पड़ौसी तक करते हैं। इससे सिद्ध है कि विवाह को पवित्र और धार्मिक बनाने के लिए ही कन्यादान की योजना उसमें कीगई है, वस्तुतः कन्यादान दान नहीं।

दूसरे प्रत्येक स्वामी को अपनी वस्तु के देने न देने या बेचने न बेचने का पूर्ण अधिकार होता है, पर कन्या के विषय में यह बात नहीं है। माता पिता यदि कन्या को देना न चाहें या उसे बेचना चाहें तो यही नहीं कि इन दोनों बातों का उन्हें अधिकार नहीं, किन्तु शास्त्र इसको पाप बतलाता है मनु लिखता है:—

अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति॥(मनु०९। ९१)

माता पिता से न दी हुई कन्या यदि आप अपना विवाह करले तो वह और उसका पति दोनों निर्दोष हैं। यह तो रही दान की बात, अब रहा विक्रय, सो मनु तो आर्ष विवाह में जो गोमिथुन वर से लेकर कन्या को देने की चाल पहले से चली आती थी, उसका भी निषेध करता है। यथाः—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः॥(मनु०३—५३)

अन्य शास्त्र भी सब इस विषय में मनु से सहमत हैं, कोई भी कन्या को दान न करने या बेचने का अधिकार माता पिता को नहीं देता। क्या किसी अन्य वस्तु को भी दान न करने या बेचने से उसका स्वामी पापी होता है? अतएव कन्या पर

माता पिता का न तो वैसा स्वामित्व ही है, जैसा अन्य पदार्थों पर होता है और न कन्यादान अन्य दानों के समान है।

कन्यादान साधारण दान नहीं, इसकी पुष्टि वेद भगवान् भी करते हैं। कन्यादान के समय जो मन्त्र पढ़ाजाता है, जिस मन्त्र को पढ़ते हुवे ही पिता या पुरोहित कन्या का हाथ वर के हाथ में देते हैं। यदि हमारे भाई उसका अर्थ समझने की भी चेष्टा करते तो कभी उनको यह भ्रम न होता। पर उनकी दृष्टि में तो मन्त्र केवल उच्चारण के लिए हैं, न कि अर्थ जानने या उसपर विचार करने के लिये। अस्तु, वह मन्त्र और उसका अर्थ जो महीधर ने अपने भाष्य में किया है, पाठकों की अभिज्ञता के लिए हम यहांपर उद्धृत करते हैं:—

> को ऽदात्कस्मा अदात् कामोऽदात्कामायादात्।
> कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥

(शुक्लयजुर्वेद अ० ७ मं० ४८)

महीधरभाष्यम्–" कोऽदात्कस्मै अदादिति प्रश्नद्वयस्योत्तरमाह-कामोऽदात्कामायैवादात्, न त्वं दाता नाहं प्रतिग्रहीता, त्वत्कामाभिमानी देवो मत्कामाभिमानिने देवायादात्, एवं च काम एव दाता कामएव प्रतिग्रहीता नान्यः। हे काम! एतद् द्रव्यं ते तवास्तु, दातृप्रतिगृहीतृत्वात्।"

भावार्थः—कौन देता है? किसको देता है? इन दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं। काम देता है और काम को ही देता है न तू देनेवाला और न मैं लेने वाला, तेरी आवश्यकता ने मेरी आवश्यकता को दिया। इसलिए काम ही देने वाला और काम ही लेने वाला है, अन्य कोई नहीं। हे काम! यह वस्तु तेरे लिए है, क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता तू ही है।"

पाठक ! इससे अधिक कन्यादान का स्पष्ट विवरण और क्या होसकता है ? वास्तव में कन्या को न कोई देता है और न लेता है. आवश्यकता ही उसको देती और लेती भी है। मनुष्यों में तो उपचार मात्र उसके दान और आदान का सम्बन्ध है, वस्तुतः यह सब कुछ आवश्यकता कराती है। इसी लिए श्रुति के अन्त में क्या ठीक कहा है "हे काम ! एतत्ते" दीपक के तले अन्धेरा इसी को कहते हैं, जिस श्रुति को पढ़ कर हमारे भाई रातदिन कन्यादान कराते हैं, उसी में उसका इतना स्पष्ट विवरण होते हुवे वे कन्यादान और अन्न वस्त्र के दान में भेद नहीं समझते। यदि कर्मकाण्ड के साथ वैदिक मन्त्रों के अर्थ पढ़ाने की भी परिपाटी प्रचलित होती तो ऐसी भ्रान्तियां हमारे समाज में न फैलने पातीं।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है कि ब्राह्म, दैव और आर्ष जैसे श्रेष्ठ विवाहों को छोड़कर हमारे देशके सम्भ्रान्त क्षत्रियों ने गान्धर्व विवाह का आश्रय क्यों लिया ? हमें तो इसका कारण भी यही प्रतीत होता है। जब ब्राह्म और दैव विवाहों में अन्न वस्त्र की भान्ति कन्यायें दान की जाने लगीं और आर्षविवाह में उनपर शुल्क लिया जाने लगा, तब क्षत्रियोंको ये दोनों बातें आत्मसम्मानके विरुद्ध प्रतीत हुईं, तब उन्होंने विवश होकर गान्धर्वविवाह का आश्रय लिया। हमारे इस कथन की पुष्टि भगवान् कृष्ण के उस वचन से जो उन्होंने अपनी बहन सुभद्रा के विवाह विषय में अपने ज्येष्ठभ्राता बलभद्र से कहा था, होती है। वह उक्ति इस प्रकार है:—

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्को न मन्यते।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कःकुर्यात् पुरुषो भुवि॥

( महाभारतआदिपर्व २२१।४)

अर्थ स्पष्ट है, पद्य के पूर्वार्ध का सङ्केत ब्राह्म और दैव विवाहों से है, जिनमें कन्यादान किया जाता है और उत्तरार्ध का संकेत आर्ष विवाह से है, जिसमें वरसे शुल्क लिया जाता है। अतएव कन्यादान से पूर्वकाल के क्षत्रिय वर्ग की और आजकल के शिक्षित समाज की श्रद्धा को हटाना, उन्हीं लोगों का काम है, जिन्होंने उक्त श्रुति के आशय को न समझकर कन्यादान को भी घासफूस के दान की भांति समझ लिया। जब शास्त्र की आज्ञानुसार कन्या को न देने या बेचने का हम को अधिकार नहीं है, तब वह न तो हमारी संपत्ति ही है और न उसपर हमारा स्वामित्व हो हो सकता है। जिस वस्तु पर न तो हमारा स्वामित्व है और न वह हमारी संपत्ति है, उसके दान करने का अधिकार हमको कब है?

तीसरे अन्य सब दानों में दान देने के पश्चात् दाता की सत्ता उठ जाती है और उसको उस दान की हुई वस्तु से फिर कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, जैसा कि 'दान' शब्द का निर्वचन किया जाता है—"स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तोत्पादनं दानम्" अपनी सत्ता उठाकर दूसरे की सत्ता स्थापित कर देना दान कहलाता है। पर कन्यादान में यह बात नहीं है दान करने के बाद माता पिता की सत्ता और सम्बंध दोनों कन्या से बने रहते हैं। यदि सत्ता न रहती तो दौहित्र न तो मातामह का दायाद होता और न उसका दिया हुआ पिण्ड उसे पहुंचता। मनु तो दौहित्र के विषय में यहां तक लिखता है:—

पौत्र दौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैवं सन्तारयति पौत्रवत्॥ (मनु० ९।१३९)

जब हिन्दू शास्त्र पौत्र के सारे अधिकार दौहित्र को देते हैं और इन दोनों में कुछ भेद नहीं करते; तब यह कहना कि वि-

वाह के पश्चात् पुत्री पर माता की सत्ता नहीं रहती, कितना शास्त्र के प्रतिकूल है ? इसके अतिरिक्त दान की हुई वस्तु को न तो दाता अपने घर पर रख सकता है और न उससे कुछ काम ले सकता है। पर क्या आजतक आप एक भी ऐसी कन्या बतला सकते हैं, जिसका विवाह के पश्चात् माता पिता से कुछ सम्बंध न रहा हो ? हमतो देखते हैं कि पुत्रियां विवाह के पश्चात् बड़े चाव से बरसों अपने मैकों में रहती हैं और घर का सारा काम धन्धा करती हैं। फिर दान की हुई वस्तु को माता पिता क्यों अपने घर में रखते हैं और उससे अपना काम धन्धा कराते हैं ? इस लोकाचार से भी यही सिद्ध होता है कि कन्यादान को कोई भी हिन्दु और दानों की भान्ति नहीं समझता, फिर न मालूम क्यों हमारे धर्मध्वज भाई इसकी विशेषता को नष्ट करके इसे भी अन्य साधारण दानों की भांति बनाने की उधेड़बुन में लगे हुए हैं। एक प्रमाण सारसंग्रह का हम इस विषय में और देते है, यद्यपि वह मंत्र दान के विषय में है. तथापि उसमें उदाहरण कन्यादान का दिया गया है, इसलिये हम उसे यहां उद्धृत करते हैं:—

दद्यात्कन्यां वदेद्विद्वान् विप्रायोदकपूर्वकम्।
अन्येभ्यस्तु वदेदेवमेव मन्त्रं विचक्षणः॥ (सारसंग्रह)

इसकी व्याख्या शिवार्चनचन्द्रिका नाम्नी टीका में पं० श्रीनिवास भट्ट इस प्रकार करते हैं:—

"अत्रोदकपूर्वकमित्यनेन हिरण्यादिवन्मंत्रस्य दानं प्रतीयते। दानं तु स्वस्वत्वापरित्याग पूर्वकं विधिवत्परस्वत्वोत्पादनरूपं भवति। तत्तु क्वापि शिष्याय मन्त्रं दत्वा पुनस्तन्मन्त्रं गुरुर्नैजपति, नाराध्यति, तं पुनरन्यस्मै कस्मैचिन्न ददातीति वचनं वा संप्रदायो न दृश्यते। तस्मादुदकदानं त्वौपचारिकं तत्र

परसत्तापादने कृतेऽपि स्वसत्तापरित्यागराहित्यंतु कन्यादान-वद्भवितुमर्हतीत्यास्तां विस्तरः।"

जो लोग समझते हैं कि जलपूर्वक दान करने से दाता की सत्ता दान की हुई वस्तु से उठजाती है, उनको पं० श्रीनिवास भट्ट की इस उक्ति को स्मरण रखना चाहिये, जो दान किये हुवे मन्त्र पर गुरु की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिये प्रथम तो लोकाचार से उसकी पुष्टि करता है, पुनः कन्यादान का उदाहरण देकर उसको विशेष पुष्टि करता है। अर्थात् उसके कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कन्यादान में भी जो जलपूर्वक किया जाता है, दाता की सत्ता अक्षुण्ण रहती है, ऐसे ही जलपूर्वक मन्त्र का दान करने से गुरु का अधिकार उसपर से नहीं जाता रहता।

पाठक? जब हमारे पूर्वजों ने अचेतन मन्त्र के दान को भी सुवर्णादि के दान की भान्ति नहीं माना, तब कन्यादान को वैसा समझना हमारे हृदय की कितनी संकीर्णता है?

चौथे यदि कन्यादान भी अन्यदानों की भान्ति होता तो वह केवल ब्राह्मणों के लिए होता, क्योंकि ब्राह्मण के सिवाय अन्य किसी वर्ण को शास्त्रमें दान लेने का अधिकार नहीं है। पर कन्यादान का प्रतिग्रह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी करते हैं। क्या शास्त्र में ब्राह्मणेतरों को दान लेने का अधिकार है? यदि नहीं है तो फिर उनके लिए कन्यादान की यह शास्त्र विरुद्ध परिपाटी क्यों चलाई गई? अतएव चारों वर्णों में समान रूप से कन्यादान का प्रचलित होना और उनका निःसंकोच होकर इसका प्रतिग्रह करना यह सिद्ध कर रहा है कि इतरदानों से इसका कुछभी सादृश्य और साधर्म्य नहीं है। अन्यथा

सिवाय ब्राह्मणों के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को इसके प्रतिग्रह का अधिकार शास्त्र कभी न देते।

पांचवे यद्यपि इस समय हिन्दू समाज में कन्यादान और पाणिग्रहण विवाह के ये दो अङ्ग माने जाते हैं, विवाह विधि में भी इन दोनों का ही विधान पाया जाता है। तथापि यह हम निःसंकोच कह सकते हैं कि हिन्दू शास्त्रों में प्रधान पाणिग्रहण संस्कार ही मानागया है। प्रमाण इसका यह है कि मनु तथा अन्य सब शास्त्रकार कन्या को यह अधिकार देते हैं कि माता पिता या अन्य संरक्षक उसका दान न करें तो वह स्वयं पाणिग्रहण के द्वारा अपना विवाह करले। (देखो मनु० अ० ९ प० ९१) पर शास्त्रों में यह आज्ञा कहीं नहीं है कि माता पिता से दान की हुई कन्या विना पाणिग्रहण संस्कार के किसी की पत्नी बन सके। "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" (४-१-३३) इस सूत्र में पाणिनि ने 'पत्नी' शब्दका निर्वचन ही यह कियाहै "जो यज्ञ में पति का वरण करती है, वह पत्नी है।" इतिहास भी हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण रखता है कि जिनमें कन्यादान न होने पर भी केवल पाणिग्रहण संस्कार से विवाह पूर्ण समझा-गया। शकुन्तला, सुभद्रा और रुक्मिणी आदि वराङ्गनाओं के विवाह विना कन्यादान के हुवे. इस बात को कौन नहीं जानता? पर क्या कोई हिन्दू यह कहने का साहस करसकता है कि इन के विवाह अवैध या अनुचित थे? किन्तु ऐसा एक भी प्राचीन या अर्वाचीन उदाहरण हमको नहीं मिलता, जिसमें विना पाणिग्रहण संस्कारके केवल कन्यादानसे विवाह की पूर्तिहुईहो।

वैदिक मंत्रों में भी जो विवाह से सम्बन्ध रखतेहैं, यथाः—

"भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।"

देवताओं के दान का वर्णन तो आता है, पर माता पिता या सम्बंधी जो कन्यादान करते हैं, इसका वर्णन विवाहविधि के किसी मंत्र में नहीं है। प्रत्युत यजुर्वेद के उस प्रसिद्ध मंत्र में जो कन्यादान के समय पढ़ाजाता है, इसका औपचारिक होना स्पष्ट ही कहागया है। हां वेद में साक्षात् उसका विरोध न होने से ही वह वेदानुकूल मानलिया गया है। अतएव पाणिग्रहण जिसकी :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

इत्यादि मंत्रों में साक्षात् विधि है, विवाह का मुख्य अङ्ग है, कन्यादान गौण।

छठे इन सब हेतुओं की उपेक्षा करके यदि कन्यादान को भी इतरदानों के समान ही मान लियाजाय और यह भी मानलियाजाय कि वह एक ही बार होसकता है, पुनर्वार नहीं। इस दशा में भी शास्त्र की आज्ञानुसार वह किसी के गले का हार कभी नहीं बनाया जासकता। पहले अध्याय में हम नारदस्मृति के उन पद्यों को उद्धृत कर चुके हैं, जिनमें १६ दशाओं में किया हुवा दान अदान समझाजाता है। तो क्या जिन्होंने मोह से, प्रमाद से, मूर्खता से वा लोभ से सात २ या आठ २ वर्ष की कन्याओं का दान वृद्धों, रोगियों, दुराचारियों या नपुंसकों के साथ करदिया है। क्या महात्मा नारद के वचनानुसार वह अदान नहीं है? यदि है तो इन निरपराध बालविधवाओं को जो यह भी नहीं जानतीं कि हमें कब, किस को और किसलिए दियागया? ऐसे अनुचित दान का शिकार बनाना महा अन्याय और घोर पाप है। अतएव ऐसी कन्याओं का फिर दान करना पुनर्दान नहीं किन्तु सकृद्दान ही है। इस दान के करने का जिनको पहले अधिकार था, उन्हीं को

शास्त्रानुसार फिर भी है, जैसा कि हम वसिष्ठ, कात्यायन और नारद आदि महर्षियों के प्रमाण से पहले अध्याय में सिद्ध करचुके हैं।

## आठ विवाहों का रगड़ा।

छठा आक्षेप यह कियाजाता है कि मनु ने जो आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं, उन में विधवाविवाह नहीं है। यदि विधवा विवाह भी शास्त्रकारों को सम्मत होता तो विवाहों की सूची में उसका नाम भी दियाजाता।

समीक्षा–यदि आठों प्रकार के विवाहों में विधवाविवाह का नाम नहीं आया है, तो उनमें रण्डुवे के विवाह काभी उल्लेख नहीं है। यदि नाम न होने से विधवाविवाह उनके बहिर्गत है तो इसीकारण से रण्डुवों का विवाह भी कदापि उनके अन्तर्गत नहीं होसकता। यह नहीं हो सकता कि एक ६० वर्ष के बूढ़े का चौथा या पांचवां विवाह तो और वह भी कुमारी कन्या के साथ ब्राह्म या दैव विवाह समझाजाय, पर एक आठ या दस वर्ष की बालविधवा का विवाह और वह भी ऐसे पुरुष के साथ जो धर्मतः कुमारी कन्या का अधिकारी नहीं है, आठों विवाह के इतने लम्बे चौड़े पेट में से कि जिसमें महा-जघन्य और पाशविक राक्षस और पैशाच विवाह तक समा-जाते हैं, किसी में न समासके। वास्तव में ये आठों प्रकार के विवाह भले या बुरे, वर और कन्या दोनों के लिए ही विधान किये गये हैं। यदि 'वर' शब्द से विवाहित और अविवाहित का कुछ भेद नहीं समझाजाता तो कन्या में इस भेद की कल्पना करना स्वार्थ का कितना नीच उदाहरण है? यदि किसी शास्त्र में पुरुषों के पुनर्विवाह का दूसरा नाम या विधि

नहीं है, तो कन्याओं के लिए शास्त्र में दूसरा नाम या विधि ढूँढना, इससे बढ़कर धार्मिक सङ्कीर्णता और क्या होसकतीहै ?

इसके अतिरिक्त यह कैसे आश्चर्य्य की बात है कि जिन पुरुषों का स्त्री के साथ संपर्क होगया है, उनके विवाह को तो हमारे भाइ आठ विवाहों के अन्तर्गत मानलेते हैं, जिनको स्मृतितत्व' का प्रणेता पं० रघुनंदन भट्टाचार्य नहीं मानता, जैसा कि हम दूसरे आक्षेप के समाधान में दिखलाचुकेहैं। पर बालविधवाओं के विवाह को जो पुरुष का संसर्ग तो एक ओर यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते है और विवाह क्या वस्तु है ? विवाहों की सूची से पृथक् किया जाता है, इस अन्याय और अंधेर का भी कुछ ठिकाना है ? देवलऋषि पुनर्विवाह को गाँधर्व विवाह के अंतर्गत मानते हैं। यथा :—

गाँधर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधि.। कर्तव्यश्चत्रिभिवर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः

मनुका प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक मनु० अध्याय ८ श्लोक २२६ की टीका में देवल के इस वचन को उद्धृत करता हुआ लिखता है-"इति गान्धर्वेषु विवाहेषु होममंत्रादि विधिरुक्तः।" इसपर भी विपक्षियों की यह कल्पना कि यह आठ विवाहों के बहिर्भूत है, कैसी निर्मूल कल्पना है ?

## पुनर्भू का पचड़ा।

सातवाँ आक्षेप यह किया जाता है कि विधवा होकर जो स्त्री विवाह करती है, उसे 'पुनर्भू' कहते हैं और पुनर्भू को शास्त्र में अधम और विवाह के अयोग्य माना है।

समीक्षा—इस आक्षेप का उत्तर हम सप्रमाण पहले अध्याय में दे चुके हैं और यह दिखला चुकेहैं कि नारद ने जो तीनप्रकार की पुनर्भू मानी हैं, उनको विवाह के योग्य ठहराया

है। यहां हम केवल इतनाही कहना चाहते हैं कि यदि शास्त्रों में पुनर्विवाहिता कन्या की पुनर्भू संज्ञा मानी गई है तो पुरुष भी पुनर्विवाह करने से पुनर्भू माना गया है। इस दशा में विचारी कन्या ने ही क्या अपराध किया है कि वह पुनर्भू होने से पतित मानीजाय। यदि पुनर्भू होना ही अपराध है, तो यह रक्तोभर भी पुरुषों का स्त्रियों से कम नहीं। इस अन्याय का भी कुछ ठिकाना है कि पुरुष तो स्वेच्छा और स्वतंत्रता पूर्वक विवाह करके भी उसके प्रभाव से बेलाग बने रहें, पर कन्या विचारी अपनी इच्छा और स्वतंत्रता से नहीं, किन्तु दूसरों की इच्छा का शिकार होकर उस नाम मात्र के विवाह की फांसी में सदाके लिए लटका दी जांय। जो जाति अपने निर्बल अङ्गोंपर ऐसा घोर अन्याय और वह भी धर्म के नाम पर करसकती है, उसका स्वतंत्रता का बेसुरा राग अलापना नितान्त असामयिक और हास्यास्पद है।

## गोत्र का प्रश्न।

आठवां आक्षेप यह किया जाता है कि विवाह के समय वर और कन्या का गोत्र उच्चारण किया जाता है। पुनर्विवाह में कन्यादान के समय कन्या का कौनसा गोत्र उच्चारण किया जाय? पिता का या पूर्वपति का?

समीक्षा—इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि गोत्र किस को कहते हैं? यद्यपि पूर्वकाल में गोत्र की प्रवृत्ति केवल जन्म से ही नहीं, किन्तु विद्या से भी होती थी पिता के ही समान आचार्य्य भी गोत्रप्रवर्त्तक माने जाते थे। पर अब वह चाल उठ गई है, अब केवल जन्म से ही गोत्र माना जाता है। जो जिस ऋषि

के वंश में उत्पन्न हुआ है, वह तद्गोत्रीय कहलाता है। गोत्र-प्रवर्त्तक वैसे तो अनेक ऋषि हुवे हैं, पर उनमें आठ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम ये हैं:—

> जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रि गौतमाः।
> वसिष्ठकाश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः॥

कुल प्रवर्त्तक की स्मृति बनाये रखना ही गोत्रोच्चारण का तात्पर्य है। विवाह के समय जो गोत्र उच्चारण किया जाता है, उसमें इतना विशेष है कि गोत्र के साथ वर और कन्या के प्रपितामह, पितामह और पिता का नाम भी उच्चारण किया जाता है। इसप्रकार उनके वंश, पितर और निजनाम सब को सुनाकर उपस्थित गण का साक्ष्य प्राप्त किया जाता है, इसलिए कि आगे कोई विवाद खड़ा न हो। जब विवाहमें कन्याके पितृगोत्र का उच्चारण किया जाता है, तो पुनर्विवाह में भी वही होना चाहिये। क्योंकि पुनर्विवाह होने से कन्या का पितृकुल बदल नहीं जाता। आखिर पुरुषों के पुनर्विवाह में भी तो उनके पितृगोत्र का उच्चारण किया जाता है।

अब रही यह बात कि कन्या विवाह से पूर्व पितृगोत्र में रहती है विवाह के पश्चात् वह पतिगोत्र में सम्मिलित हो-जाती है। फिर जब पुनर्विवाह के समय उसका पितृगोत्र ही न रहा, तब उसका उच्चारण कैसा? इसका उत्तर यह है कि विवाह होने से कन्या का गोत्र या उसके पितर नहीं बदलते, वे तो उसके जीते जी वही बने रहते हैं और वह सदा अपने पिता की पुत्री और पितामह की पौत्री कहलाती है। पतिगोत्र में जाने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्त्री पति की प्रसन्नता के लिए अपना कौलिक अभिमान त्याग देती है। इसका यह अर्थ समझना कि फिर उसका पितृकुल से कुछ सम्बन्ध

नहीं रहता या उसका वंश बदल जाता है, नितान्त असंगत और अयुक्त है। गोत्र स्वाभाविक और ईश्वरप्रदत्त है, इस लिए किसी दशा में बदल नहीं सकता। हां शास्त्र की आज्ञानुसार सपिण्डीकर्म करने से स्त्री का श्राद्ध और तर्पण पति गोत्र से किया जाता है। जैसाकि कात्यायन कहता है:—

संस्कृतायां तु भार्यायां सपिण्डीकरणान्तिकम्।
पैतृकं भजते गोत्रमूर्ध्वन्तु पतिपैतृकम्॥
(स्मृतितत्व धृत कात्यायनवचन)

कात्यायन के इस प्रमाण से सिद्ध है कि सपिण्डीकर्म तक स्त्री पति के गोत्र में नहीं जाती। सपिण्डीकर्म क्या है? भिन्न २ गोत्रों का एक गोत्र में मिलाना और यह मृत्यु के अनन्तर श्राद्ध में पिण्डदान देने के लिए किया जाता है। स्त्री के पिण्ड को पुरुष के पिण्डसे मिलाकर कल्पना करली जाती है कि स्त्री पुरुष के गोत्र में मिलगई और इसके पश्चात् फिर स्त्री को भी पति के गोत्र से ही पिण्डोदक दिये जाते हैं। इस सपिण्डीकर्म का सम्बंध केवल श्राद्ध और तर्पण से है और इसीलिए वह जीते जी नहीं किया जाता, मृत्युके पश्चात् ग्यारहवें दिन कियाजाता है। अतएव कात्यायन के मतानुसार जीवितावस्था में स्त्री पितृगोत्र का त्याग नहीं करसकती, यही कारण है कि वह जीतेजी दान और व्रत आदि में अपने पितृगोत्र का उच्चारण करती है। यदि विवाह में ही उसका गोत्र परिवर्त्तन होजाता तो वह पतिगोत्र को छोड़कर क्यों पितृगोत्र का उच्चारण करती। शास्त्र की इस व्यवस्था के अनुसार तो मरने के पश्चात् भी यदि पुत्रादि उसकी सपिण्डी करें तबतो उसका गोत्र बदलता है, अन्यथा प्रलयतक उसका पितृगोत्रही बनारहता है विपक्षियों की ओर से इसविषयमें लघुहारीत और बृहस्पति के क्रमशः ये दो वचन प्रस्तुत किये जाते हैं:—

स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे।
पतिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया॥
( स्मृतितत्त्वधृत लघुहारीतवचन )

पाणिग्रहणिका मन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः।
भर्तुर्गोत्रेण नारीणां देयं पिण्डोदकं ततः॥
( स्मृतितत्त्वधृत बृहस्पतिवचन )

इन दोनों वचनों में यद्यपि विवाह के पश्चात् कन्या का पितृगोत्र से छूटना माना गया है, तथापि इस गोत्र परिवर्त्तन का उपयोग इन दोनों ऋषियों ने भी पिण्डोदकक्रिया में ही माना है। कोई नियम जबतक वह उपयोग में नहीं लाया जाता, उसका होना न होना बराबर है। मानलो कि विवाह होने के पश्चात् ही कन्या पितृगोत्र से पृथक् होगई, अब प्रश्न होता है कि क्यों ऐसा कियागया? उत्तर मिलता है कि पतिगोत्र से उसका श्राद्ध और तर्पण करने के लिए। श्राद्ध और तर्पण उसके जीते जी हो नहीं सकता। अतएव मरने के पश्चात् होने वाले श्राद्ध और तर्पण के लिए अभी से यह बान्ध बान्धना विना पानीदेखे वस्त्र उतारना है। यदि कहो कि आशौच, व्रतऔर दान आदि में भी तो पतिगोत्र का उपयोग होसकता है। हो तो सकता है पर जिस बात के लिए शास्त्र की आज्ञा नहीं, उसमें यदि कोई किसी नियम का उपयोग करने लगे, तो ऐसा करने से कोई उसे रोक नहीं सकता, पर वह मनमाना ही उपयोग है। दूसरे ऐसी चाल भी कहीं देखने में नहीं आती कि स्त्रियां व्रत और दान आदि में अपने पितृगोत्र को छोड़कर पतिगोत्र का उच्चारण करती हों।

इसके अतिरिक्त यदि विवाह के पश्चात् ही स्त्री का पितृगोत्र से भ्रष्टहोना मान लिया जाय तो फिर सपिण्डीकर्म व्यर्थ हुआ जाता है क्योंकि सपिण्डीकर्म का तो उद्देश ही यह है

कि वह गोत्र परिवर्त्तन के लिए कियाजाता है। यदि विवाह से ही यह उद्देश सिद्ध होजाता है तो फिर उसकी आवश्यकता ही क्या रही? अतएव लघुहारीत और बृहस्पति का भी 'पिण्डोदक' शब्द से यही तात्पर्य प्रतीत होता है। यद्यपि इन दोनों आचार्यों की सम्मति मे गोत्रपरिवर्त्तन की योग्यता विवाह के पश्चात् स्त्री में उत्पन्न होजाती है, तथापि उसका उपयोग सपिण्डीकर्म में होता है। इस प्रकार इन दोनों का सामञ्जस्य कात्यायन के साथ होजाता है। अतएव पुनर्विवाह के समय पितृगोत्र का उच्चारण करने में कोई बाधा नहीं है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब पति के कारण कन्या का पतिगोत्र से सम्बन्ध होता है, तो फिर उसके न रहने पर वह सम्बन्ध क्योंकर बना रह सकता है? क्या कारण के बिना भी कार्य रहसकता है? जब कारण ही न रहा तो फिर उसके कार्य की कल्पना व्यर्थ है। माना कि विवाह के पश्चात् कन्या पतिगोत्र में मिलगई, अब जब पति ही न रहा, जिसके कारण उसके गोत्र से उसका मेल हुवा था, तो अब उसके गोत्र को लेकर वह क्या करेगी? अपना पैतृक गोत्र तो जिसमें उसने जन्म लिया था, वह त्याग सकती है, पर यह कृत्रिमगोत्र, जो पहले नहीं था, उसे भूत बनकर चिमटता है। यह विचित्र छाया है, जो पतिकी काया न रहनेपर भी बिचारी विधवा का पीछा नहीं छोड़ती। अस्तु जो लोग यह गोत्र का पचड़ा लगाते हैं, उन्हें जरा आँखें खोलकर ऋष्य शृङ्ग की निम्नलिखित व्यवस्था को भी देखना चाहिए।

> क्षीणामावस्य त्रैभर्त्तुर्यकगोत्रं तेन निवपेत्।
> यदि त्वक्षतयोनिःस्यात्पतिमन्यं समाश्रिता।
> तद्गोत्रेण तदादेयं पिण्डं श्राद्धं तथोदकम्॥
> ( सुधीविलोचनधृत ऋष्यशृङ्गवचन )

"क्षतयोनि विधवा का पिण्ड और श्राद्ध पूर्वपति के गोत्र से करना चाहिए और अक्षतयोनि का पितृगोत्र से।" ऋष्य शृङ्ग के इस वचन से जहां गोत्र के विषय में व्यवस्था हमको मिलती है, वहां क्षतयोनि विधवा के भी पुनर्विवाह की आज्ञा मिलती है। यदि उसकी दृष्टिमें क्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह अवैध होता तो वह पूर्वपति के गोत्र से उसके पिण्डदान का विधान न करता। इस प्रमाण से भी सिद्ध है कि पति के गोत्र की आवश्यकता स्त्री का तर्पण और श्राद्ध करने के समय ही होती है। अतएव पुनर्विवाह के समय पतिगोत्र का प्रश्न उठाना सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासङ्गिक है।

## विचित्र मर्यादा।

नयां आक्षेप यह किया जाता है कि पूर्वकाल में जब यहां स्त्रीस्वातन्त्र्य बढ़ा हुवा था, तब स्त्रियां अनेक पति कर सकती थीं। पर इस चाल को अच्छा न समझकर ही जब से दीर्घतमा ऋषि ने यह मर्यादा स्थापित की:—

अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता।
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्॥
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्।
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः॥

( महाभारत आदिपर्व अ० १०४ )

तब से स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का करना निषिद्ध और गर्हित समझा जाने लगा।

समीक्षा—जिन महात्मा दीर्घतमा के नाम से यह महा-अन्याय युक्त मर्यादा बांधी जाती है, उनका यहां पर कुछ परिचय हम पाठकों को देना चाहते हैं। प्रथम तो उनकी उत्पत्ति ही आदिपर्व के १०३ अध्याय में जिस अश्लील रीति

पर वर्णन की गई है, हम उसका अनुवाद देने में असमर्थ हैं। हम यहां केवल इतना ही लिख सकते हैं कि " वृहस्पति और उतथ्य दो सहोदर भ्राता थे। उतथ्य की स्त्री से जबकि वह गर्भिणी थी, उसके निषेध करने पर भी वृहस्पति ने बलात्कार किया, जिसके कारण गर्भस्थ बालक कुबड़ा और जन्मान्ध होगया, वे ये ही दीर्घतमा ऋषि थे, जो उस पीड़िता गर्भिणी की कुक्षि से उत्पन्न हुवे। जन्मान्ध होने के कारण ही इनका नाम 'दीर्घतमा' रक्खा गया। इन्होंने अपना विवाह "प्रद्वेषी" नाम्नी एक स्त्री के साथ किया। वह स्त्री सुरूपा थी और ये महाकुरूप, उसपर जन्मान्ध, इसलिए उससे इनकी नहीं बनती थी रातदिन देवासुर संग्राम मचा रहता था। एकदिन दीर्घ-तमा ने उससे पूछा कि "तू मुझसे द्वेष क्यों करती है?" प्रद्वेषी ने कहा कि "स्त्री का भरण करने से 'भर्ता' और पालन करने से 'पति' कहलाता है, तू न मेरा भरण करता है, न पालन, किन्तु उल्टा मुझे तेरा भरण और पोषण करना पड़ता है। अब मुझसे तेरा भरण नहीं होसकता, इसलिए जहां तेरी इच्छा हो चलाजा।" इसपर दीर्घतमा ने क्रुद्ध होकर अपनी स्त्री को डरानेके लिए यह मर्यादा बांधी और उल्लिखित दो पद्य कहे।"

"परन्तु उसकी स्त्री ऐसी वैसी नहीं थी, जो उसके डराने धमकाने में आजाती। उसने कुपित होकर अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि तुम इस निखट्टू को बान्धकर गंगा में छोड़ आओ। माता की आज्ञा से पुत्रों ने पिता को एक डोंगी में बान्धकर गंगा के प्रवाह में छोड़दिया। वह अंधा उस डोंगीमें बन्धा हुवा बहा चला जाता था, कई दिन वीत गये। एकदिन प्रातःकाल राजा बलि गंगामें स्नान कर रहा था. उसने बहती हुई उस डोंगी को देखा। राजा की आज्ञा से सेवकों ने उसे

किनारे पर लगाया। राजाने उसमें जकड़े हुवे एक अंधे और कुबड़े मनुष्य को देखा, बन्धनों को काटकर उसको मुक्त किया और उसका वृतान्त सुनकर राजा उसपर दयार्द्र हुवा और राजप्रासाद में लाकर बड़े समारोह से उसका आतिथ्य किया। ऋषि के स्वस्थ और प्रसन्न होनेपर राजाने राज-महिषी में सन्तान उत्पन्न करने के लिए उसे निमन्त्रित किया, जिसको उसने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया। राजाने अपनी पत्नी 'सुदेष्णा' को ऋषि के पास जाने को कहा। रानी उसको अंधा और कुरूप जानकर स्वयं तो उसके पास न गई, पर उसने अपनी दासी को भेजदिया। उस दासी में दीर्घतमा ने कक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्रों को उत्पन्न किया। तब राजाने ऋषि से कहा कि ये पुत्र मेरे क्षेत्र में पैदा होने से मेरे हैं। इसपर ऋषिने कहा नहीं मेरे हैं, मैंने शूद्रयोनि में उत्पन्न किये हैं। तुम्हारी रानी तो मुझको अंधा और कुबड़ा जानकर मेरे पास ही नहीं आई, फिर पुत्रों पर दावा कैसे करते हो? यह सुनकर राजाने बड़े अनुनय और विनय के पश्चात् ऋषिको पुनः प्रसन्न किया और इसप्रकार सुदेष्णा को बहुत कुछ कह सुनकर और शाप का भय दिखाकर उसके पास भेजा। तब दीर्घतमा ने उस राजपत्नी से बड़े तेजस्वी और प्रख्यात अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड और सुह्म इन पांच पुत्रों का उत्पन्न किया, जिन्होंने उक्त नाम के पांच राष्ट्रों की नींव डाली। इस प्रकार परशुराम से नष्ट किया गया क्षत्रिय वंश संसार में पुनः प्रतिष्ठित हुवा।"

(देखो महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४)

पाठक! यह आख्यान है, जिसके आधार पर विधवाविवाह के विपक्षी स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का निषेध करते हैं और

यह विचित्र मर्यादा है, जिसपर लाखों अवाक् बालविधवाओं को बलि चढ़ाई जारही है। इस आख्यान से ही सिद्ध है कि दीर्घतमा से पहले स्त्रियां बे रोकटोक दूसरा पति करसकती थीं। दीर्घतमा ने किसी सदिच्छा और सदुद्देश से इस मर्यादा को प्रतिष्ठा नहीं की, किन्तु अपनी स्त्री के अनादर से कुपित होकर उससे बदला लेने के लिए उसे इस अपूर्व मर्यादा की सूझी। अपनी स्त्री से तो जिसने उसका अपमान किया था, उसकी कुछ पार न बसाई, किन्तु वह तिरस्कृत होकर और बान्धाजाकर गङ्गा में बहाया गया। पर अन्य निरपराध लाखों बालविधवाओं से आज उसके अनुयायी बदला चुका रहे हैं ' यदि यह मर्यादा किसी सदुद्देश से प्रेरित होकर या कम से कम व्यभिचार को रोकने के उद्देश से भी बान्धी गई होती तो सब से पहले हम इसका स्वागत करते, पर यहां तो बात ही और है। स्त्री से चिढ़कर तो महात्मा ऋषि यह मर्यादा बांधते हैं कि "आज से लोक में स्त्रियों का एक ही पति होगा, वे दूसरे को प्राप्त होकर पतित हो जावेंगी।" पर बंधन से खुलते ही और संज्ञा में आते ही एक नहीं दो स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करते हैं। नहीं २ हम भूलते हैं, उन्होंने उनका सतीत्व कहां नष्ट किया? जो स्वयं संतान उत्पन्न करने में असमर्थ है, उसके लिये संतान उत्पन्न कर देना, क्या इससे बढ़कर और कोई परोपकार होसकता है? विधवा ही नहीं पतिवाली स्त्रियां भी संतान के लिये चाहे कितने ही पुरुषों से संयोग करें, इससे उनके सतीत्वकी हानि नहीं होती, उनका सतीत्व भङ्ग तभी होगा, जबकि वे नियमानुसार किसी के साथ विवाह करके सन्तान उत्पन्न करेंगी। यह है दीर्घतमा ऋषिकी विचित्र मर्यादा, जिसके अनुसार उसके अनुयायी विधवा-

विवाह को निषिद्ध और वर्जित ठहराते हैं। हम इसपर केवल यही कहना चाहते हैं कि सत्युग में जबकि मंत्रों के द्वारा पुत्र उत्पन्न किये जाते थे चाहे यह मर्यादा चलगई हो, पर अब इस कलियुग में जबकि बिना स्त्री पुरुष संयोग के सन्तान उत्पन्न नहीं होसकती। कोई विक्षिप्त पुरुष भी इसके चलने की आशा नहीं कर सकता।

## लोकाचार के आधार पर किये जाने वाले आक्षेप।

शास्त्र की आड़ लेकर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका समाधान हम करचुके। कुछ आक्षेप ऐसे भी हैं, जिनका शास्त्र से कुछ सम्बंध नहीं, केवल रूढ़िवाद या लोकाचार का आश्रय लेकर किये जाते हैं, उनकी भी कुछ बानगी हम विज्ञ पाठकोंको दिखलाना चाहते हैं।

### लोकापवाद।

पहला आक्षेप यह है कि विधवाविवाह प्रचलित लोकाचार के विरुद्ध है। चाहे कोई काम कैसा ही अच्छा और शास्त्र के अविरुद्ध क्यों न हो यदि लोकाचार में वह वर्जित है, तो उसके करने से समाज में निन्दा होती है। "अलभ्यस्तभ्यं वा हरति महिमानं जनरवः।" लोकापवाद चाहे भूंठा हो वा सच्चा, मनुष्य की कीर्त्ति में कलङ्क लगा देता है। तभी तो किसी ने कहा है—"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।"

समीक्षा—लोकाचार प्रत्येक देश और समय में भिन्न २ होता है। संसार में कोई भी ऐसा आचार नहीं है, जो सब देशों में और सब कालों में एकही रीतिपर मानाजाता हो। पहले यहां आवश्यकता पड़ने पर नियोग से संतानोत्पत्ति करना, जैसाकि कुन्ती और माद्री ने किया, एक स्त्री के पांच

पति होना; जैसा कि द्रौपदी ने किया, मामा की पुत्री से विवाह करना जैसाकि अर्जुन ने किया, ऐसे २ आचार भी समाज में प्रचलित थे। आजकल ऐसे आचारों को भारत की असभ्य जातियां भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखतीं। इसी प्रकार एक देश में जो आचार प्रचलित हैं, दूसरे देशों में कहीं वे कुत्हल और कहीं अनास्था की दृष्टि से देखे जाते हैं। इस दशा में नित्य बदलने वाले लोकाचार को समाज का आदर्श बनाना उस की उन्नति और प्रगति की जड़ काटना है।

भिन्न २ देश और काल को जाने दीजिये, एक ही देश और एक ही समय में हमें कोई ऐसा आचार बतलाइये कि जिसको सारा जनसमाज एक ही दृष्टि से देखता और एक ही रीति पर मानता हो। यदि कहो कि बहुमत विधवाविवाह के विरुद्ध है तो सभ्य और सुशृंखलित समाजों में भी जब बहुमत की सत्यता सन्दिग्ध है, तो ऐसे समाज में जिसमें शृंखला और संगठन की बात तो दूर रही, सामान्य पढ़े लिखे लोग भी उंगलियों में गिनने के योग्य हैं, बहुमत को सत्यके परखने की कसौटी बनाना सत्यका अपलाप करना है। हमारे इस कथन की पुष्टि मनु करता है:—

> एकोऽपि वेदविद्धर्मं यंव्यवस्येत् द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
> अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
> सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥
>
> ( मनु० १२। ११३-११४ )

दस हज़ार मूर्खों के मुक़ाबले में मनु एक विद्वान् की सम्मति को श्रेष्ठ मानता है। अब देखना चाहिये कि विधवा-विवाह के विपक्ष में बहुमत किन लोगों का है? उन्हीं लोगों का जो न शास्त्र को जानतेहैं और न जिनको अपने विवेक पर

ही भरोसा है। अन्धे की लाठी के समान रूढ़ि का आश्रय लेकर चलना बस यही जिनके जीवन का लक्ष्य है। ऐसे ही लोग ( जिनकी संख्या हमारे देश में कम नहीं है ) विधवा-विवाह को हव्वा समझते हैं। यदि उनसे कोई कहे कि मनुष्य के सींग और पूंछ होते हैं, या पशु मनुष्य की बोली बोलते हैं तो वे इस पर विश्वास करलेंगे और हाथ उठाकर कहेंगे, कि "ईश्वर की सृष्टि विचित्र है, इसमें सब कुछ हो सकता है।" परन्तु यदि उनसे कोई कहे कि अमुकस्थान में विधवा का विवाह हुवा तो वे कानों पर हाथ धर कर कहेंगे कि बस अब कलियुग आगया, अनहोनी बात होने लगीं।" ऐसे लोगों के बहुमत से समाज में किसी आचार की प्रतिष्ठा नहीं होसकती, यदि होती भी है तो बहुत थोड़े दिन के लिए। आजकल के शिक्षित समाज का ( चाहे उसकी संख्या कितनी ही कम हो ) बहुमत विधवाविवाह के विरुद्ध नहीं है। इसलिए अब उसके प्रचार को अशिक्षित जनता का बहुमत रोक नहीं सकता।

## आदर्शवाद।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि विधवाविवाह चाहे युक्ति और साम्यवाद के आधार पर निषिद्ध न हो, पर हिन्दू-समाज में पतिव्रत धर्मका जो उच्चआदर्श मानागया है, जिसके कारण हिन्दू स्त्रियों के त्याग की विधर्मियों ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसाकी है, उसके यह विरुद्ध है। देखो एक फ़ारसी शायर हिन्दू स्त्री के आत्मत्याग की इन शब्दों में दाद देता है:-

हमचो हिन्दू ज़न कसे दर आशिक़ी दीवाना नेस्त।
सोख़्तन बर शमए मुर्दा कार हर परवाना नेस्त॥

समीक्षा— जो लोग केवल आदर्श पर अपनी दृष्टि रखते हैं और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करते हैं, वे न केवल प्रकृति

और समय से युद्ध की घोषणा करते हैं, किन्तु अपने आदर्श की भी मट्टी पलीद करते हं। क्योंकि केवल कल्पना मात्र से हम किसी आदर्श तक नहीं पहुंच सकते, उस तक पहुंचने के लिए हमें समय और वस्तुस्थिति का सख्त मुकाबला करना पड़ता ह। क्या हम समाज की वर्तमान दशा म जिसमें बच्चे और बूढ़े तक विलासिता के रग में रग हुव हैं, बालविधवाओं से य‥ आशा करसकत हैं कि वे आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेंगी?

इसपर कहा जाता है कि यदि पुरुष स्त्रीव्रत धर्म का पालन नहीं करत तो क्या स्त्रियां भा पातव्रत धर्म का पालन न करें? हमारा यह आशय कदापि नहीं है। हमतो जो स्त्रियां आजन्म कौमारावस्था म ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहती ह उनके भी विवाह क विरुद्ध हं, फिर भला जो विधवाय मन स ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहती ह, उनक बलात् विवाह क पक्ष म क्यों होग?

हमारा कथन कवल यह है कि यह आदर्श कहने में जितना सरल हं, करने में उतना ही कठिन हं। जब पुरुष जो स्त्रियों की अपेक्षा बल, बुद्धि और विज्ञान सब म बढ़ हुवे ह, इस आदर्श तक पहुंचने में अपनी अयोग्यता दिखला रहे हैं, तब अबला और मूर्खा स्त्रियो से यह आशा करना कि वे इस आदर्श की रक्षा कर सकेंगी, वस्तुस्थिति से नितान्त अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। हम बुढापे तक जिस प्रवृत्ति मार्ग का आदर्श उनके सामने रखते हैं, क्या केवल हमारे मौखिक वर्जन करने से वे उससे विमुख होसकती हैं? और जब हम स्वयं उस आदर्श का पालन नहीं करसकते तो हमें कब अधिकार है कि हम स्त्रियों से उसके पालन का अनुरोध करें।

इसके अतिरिक्त पतिव्रत और स्त्रीव्रत इन आदर्शों का पालन पति और स्त्री की मौजूदगी में ही होसकता है। विधवा और विपत्नीक ब्रह्मचर्य का पालन करसकते हैं, न कि पतिव्रत और स्त्रीव्रत का। अतएव इस आदर्श की रक्षा के लिए ही विधवाओं का विवाह होना परम आवश्यक है।

## पति की अवज्ञा।

तीसरा आक्षेप यह है कि यदि विधवा विवाह होने लगेगा तो स्त्रियां पति को कुछ भी न समझेंगी। यदि पति अनुकूल न हुवा या कुछ अनबन हुई तो झट उसको मारकर या त्यागकर दूसरा विवाह करलेंगी।

समीक्षा—अब भी जिन स्त्रियों को अनुकूल पति और जिन पतियों को अनुकूल स्त्रियां नहीं मिलीं, उनमें एक घड़ी भी नहीं बनती और बने क्योंकर भला कहीं आग और पानी का भी मेल होसकता है? अब क्या ऐसी स्त्रियां जिनका पाला वृद्ध या बालपति से पड़ा है, अपने पतियों की अवज्ञा नहीं करतीं? अवज्ञा क्या उनकी मट्टी पलीद करती हैं। आश्चर्य की बात है कि यह अनमेल विवाह तो जो सारे अनर्थों की जड़ है आपकी दृष्टि में नहीं खटकता, पर विधवाविवाह से जो हज़ारों स्त्री पुरुषों को पापजीवन से बचाने वाला है, आप ऐसे घबराते हैं।

अच्छा, अब हम आपसे पूछते हैं कि रण्डुवों के पुनर्विवाह में तो आजकल कोई रोक टोक नहीं है, स्त्री को मरते देर नहीं होती कि चट दूसरा विवाह करलेते हैं। क्या आप बतला सकते हैं कि आजतक कितने रण्डुवों ने स्त्री को मारकर या त्यागकर दूसरा विवाह किया है? यदि विवाह की इतनी

सुगमता होते हुवे भी रखते हुवे ऐसा नहीं कर सकते तो फिर स्त्रियों की ओर से जो स्वभाव से ही लज्जाशील और पर-दुःखकातर होती हैं, आपको यह शङ्का क्यों होती है ? बात यह है कि " चोर की डाढ़ी में तिनका " इस कहावत के अनुसार आपने जो आजतक विधवाओं के साथ अमानुषिक बर्ताव किये हैं, इससे आपको भय होता है कि कहीं वे हमसे इसका बदला न चुकावें। पर आपका यह भय निर्मूल है, जब शत्रुता करते हुवे वे आपसे इसका बदला नहीं लेतीं, तब क्या मित्रता करते हुवे ऐसा करेंगी ? स्त्रियों की प्रकृति में ही ईश्वर ने प्रतिहिंसा वृत्ति नहीं रक्खी, किन्तु कृतज्ञता स्थापन की है। देखो जब नृशंस अश्वत्थामा द्रौपदी के सोते हुवे पांचों पुत्रों का सिर काटकर लेगया और अर्जुन इसके बदले में उसे द्रौपदी के सामने लाकर उसका सिर काटने लगा, तब द्रौपदी ने ही अर्जुन के बलवान् हाथ से उसकी प्राणरक्षा की।

## स्त्री स्वातन्त्र्य।

चौथा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि विधवाविवाह होने लगेगा तो फिर स्त्रियोंकी अधीनता नष्ट होकर वे स्वैरिणी बन जायेंगी और इससे पतिव्रत धर्म की हानि होगी।

समीक्षा—यह विचित्र प्रश्न है कि स्त्रियाँ पति को पाकर तो स्वैरिणी होजायेंगी और उसके अभाव में ब्रह्मचारिणी बनी रहेंगी। यह तो ऐसी बात है कि जैसे कोई भोजन पाकर तो भूखा रहे और भूखा रहकर अफर जावे। जैसे यह असम्भव है, ऐसे ही पतिव्रती स्त्रियों का स्वैरिणी होना और विधवाओं का ब्रह्मचारिणी बना रहना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्यमेव है। सब जानते हैं कि काम का वेग स्त्री पुरुष दोनों के लिए स्वाभाविक और दुर्धर्ष है इसकी लपेट में आकर बड़े

बड़े ऋषि मुनि अपने उद्देश को भूल गये, फिर साधारण मनुष्यों की तो कथाही क्या है? राजर्षि भर्तृहरि इसीके विषय में लिखते हैं:—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना।
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विंध्यस्तरेत्सागरम्॥

इसीके वेग को असह्य समझकर राजर्षि मनु भी शिक्षा करगये हैं:—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

इस काम के दुराधर्ष वेग से स्त्री या पुरुष तभी बचसकते हैं, जबकि दोनों का एक दूसरे का वियोग न हो और उनमें परस्पर अनुकूलता भी हो। प्रत्यक्ष देखलो, उन पुरुषों की अपेक्षा, जिनका विवाह होगया है, रण्डुवे अधिक दुर्वृत्त और व्यभिचारी मिलेंगे। इसी प्रकार उन स्त्रियों की अपेक्षा जिनके पति विद्यमान हैं, विधवाओं को पतित होने के बहुत अवसर मिलते हैं और दुष्ट पुरुष भी निरापद समझकर विधवाओं को ही अपने चुंगल में फँसाने की विविध चेष्टा करते हैं। अस्तु जिसको जो वस्तु प्राप्त है या प्राप्त होनेकी आशा है, वह उसके लिए अधीर नहीं होता। हां किसी अभिप्रेत वस्तु की अनुपलब्धि या निराशा ही अधीरता को उत्पन्न करदेती है। अतएव विधवाओं का उनके योग्य वरों के साथ विवाह करदेना मानो उनकी स्वतन्त्रता और विपथगामिता की ओषधि है।

इसके अतिरिक्त जब शास्त्र में लिखा है कि "युवावस्था में स्त्री को पति की अधीनता में रहना चाहिए" तब युवती

विधवा का विवाह न करना मानो उसे स्वैरिणी बनाना है । यदि कहो कि वह माता पिता की अधीनता में रहेगी, तो इसके लिये शास्त्र बाल्यावस्था को उपयुक्त बतलाते हैं । युवावस्था में सिवाय पति के और कोई उसका संरक्षक नहीं होसकता । कैसे आश्चर्य की बात है, उधर तो "भर्त्ता रक्षति यौवने" का राग अलापा जाता है और इधर युवावस्था में उनको विवाह करने से रोका जाता है । इस परस्पर विरोध को तो देखिये!! अतएव जो लोग बालविधवाओं का विवाह नहीं करते, वे जानबूझकर उनको स्वैरिणी बनाते हैं ।

## कन्याओं के स्वत्व पर आघात ।

पांचवाँ आक्षेप यह किया जाता है कि विधवाविवाह का प्रचार होने से कन्याओं के स्वत्व पर आघात होगा, अब तो इनकी पूछ होती है, फिर इनको कोई न पूछेगा ।

समीक्षा—वाहरे कन्याओं के हितैषियो ! इन्हीं को सौभाग्यवती बनाने के लिए तुम पचास२ और साठ२ वर्ष की अवस्था में इनके साथ विवाह करतेहो, नहीं तो ये यावज्जीवन कौमार्य का ही अवलम्बन करतीं । अहोभाग्य हैं इनके, जो आपकी ऐसी कृपादृष्टि इनपर है । किन्तु यह तो बतलाइये कि इन बिचारी कोटि कोटि विधवाओं ने आपका क्या अपराध किया है ? जो आप ज़बरदस्ती इनका स्वत्व छीनकर कन्याओं को (जो सर्वदा उसकी अनधिकारिणी हैं) देना चाहते हो । क्या जैसे कुमारी कुमार पर अपना स्वत्व रखती है ऐसे ही विधवा का स्वत्व विपत्नीक पर नहीं ? ईश्वर की आज्ञा और प्रकृति का नियम तो पुकार २ कर यही कह रहे हैं कि "समं समेन योजयेत्" पर आप ऊँट के गले में बिल्ली को बांधकर अपनी ईश्वरपरायणता और सृष्टिनियमाभिज्ञता का परिचय संसार

को दे रहे हैं। जो अनाथ विधवायें अपने सारे मानुषिक और स्वाभाविक स्वत्वों को खोये हुवे बैठी हैं, वे भला किसी का क्या स्वत्व अपहरण करेंगी? सच पूछिये तो ये अपनी उन क्वारी बहनों को जो समाज की निर्दयता से साठ साठ वर्ष के बूढ़ों की भेंट चढ़ाई जाती हैं, उस विषम भार से मुक्त करना चाहती हैं, जो इनका स्थानापन्न होकर उन्हें उठाना पड़ता है और उसके योग्य किसी प्रकार वे नहीं हैं।

## सम्पत्ति पर विवाद।

छठा आक्षेप यह कियाजाता है कि यदि विधवाविवाह होने लगेगा तो पूर्वपति की संपत्ति पर बहुत से विवाद उठेंगे, जिनके लिए न्यायालयों का आश्रय लेना पड़ेगा।

समीक्षा-प्रचलित हिन्दू दायभाग के नियमानुसार विवाह न करने पर भी हिन्दू स्त्रियां पति की सम्पत्ति पर सिवाय अपना योगक्षेम करने के कोई स्थायी अधिकार नहीं रखतीं, न वे उसको रहन करसकती हैं और न दान या विक्रय। जिन समाजों में जैसे ईसाई और मुसलमान, स्त्रियों को पितृदाय और पतिदाय दोनों मिलते हैं, वहां तो उनके पुनर्विवाह करने पर कोई झगड़ा न हो और यहां जहां ढाक के तीनपात हैं, झगड़ों का बवंडर उठ खड़ा होगा। रहा स्त्रीधन या पिता या पति ने दान या वसीयत के द्वारा यदि उन्हें कुछ दिया है तो वह उनका अपना है, उससे उनको किसी दशा में भी कोई वञ्चित नहीं करसकता।

जब मृतपति से ही उनका कुछ सम्बंध न रहा, तब वे उसकी जायदाद को लेकर क्या करेंगी? यदि लोभ से ऐसा कोई चाहे भी तो क़ानूनी वारिस के होने पर अदालत उसे

क्यों दिलायेगी? हां उस अवस्था में जबकि कोई क़ानूनी वारिस न हो, वे उसको फेंक नहीं सकतीं। जब ऐसी दशा में पिता की सम्पत्ति भी उनको मिलती है, तो इस में क्या आपत्ति है? दोनों दशाओं में विवाद का कोई कारण नहीं दीखता। यदि इसपर भी कोई विवाद उठखड़ा हो तो क़ानून-के मुताबिक न्यायालय उसका निर्णय करसकते हैं। "कैरजी-र्णभयाद्भ्रातः! भोजनं परिहीयते" क्या किसी ने अजीर्ण के भय से भोजन का भी परित्याग किया है?

इसी प्रकार के अन्य भी असंगत और असार आक्षेप किये जाते हैं विस्तरभय से हम यहां उनका उल्लेख नहीं करसकते।

# तीसरा अध्याय ।

## आचार और समाज ।

### धर्मशास्त्र और आचार ।

धर्मशास्त्र एक प्रकार का क़ानून है और आचार उसका उदाहरण ( नज़ीर ) है । यद्यपि क़ानून नज़ीर पर अवलम्बित नहीं होता, उसकी नींव किसी सिद्धान्त या उद्देश पर रक्खी जाती है, तथापि नज़ीर से उसकी पुष्टि अवश्य होती है । इसी प्रकार आचार भी धर्मशास्त्र का पोषक है और जिन बातों के लिए धर्मशास्त्र में न विधि है न निषेध, उनमें वह क़ानून का काम भी देता है ।

यद्यपि जितने क़ानून या धर्मशास्त्र मनुष्यों में प्रचलित हैं, वे सब उनके आचार विचारों का ही परिणाम हैं और इस में भी सन्देह नहीं कि सर्व साधारण पर क़ानून का इतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि उदाहरण का । तथापि यह हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक देश में सभ्यता की उन्नति के साथ २ आचार का शासन कम हुवा है और क़ानून का शासन बढ़ा है । क़ानून भी वह नहीं, जिसकी नींव आज से हज़ारों वर्ष पहले प्राचीन आचार विचारों पर रक्खी गई थी, किन्तु हमारी वर्तमान परिस्थिति और आवश्यकतायें जिसका निर्माण कररही हैं। सभ्यताभिमानिनी जातियों में जब पुराने क़ानून संशोधित और परिवर्तित होरहे हैं, तब आज-कल किसी अग्रगामी समाज में ( चाहे उसकी गति कितनी ही मंद क्यों नहो ) आचार का शासन जो एक प्रकार का ज़ीतों पर मुर्दों का शासन है, कभी पर्याप्त नहीं होसकता ।

धर्मशास्त्र में आचार भी धर्म का एक लक्षण मानागया है और यदि उससे किसी सामाजिक या नैतिक हानि की सम्भावना नहीं है, तो वर्त्तमान क़ानून भी उसकी उपेक्षा नहीं करता। क़ानूनमें आचार की जो परिभाषा दीगईहै, वहयहहै:-

'कोई आचार जो दीर्घकाल से किसी जाति में प्रचलित हो और किसी निर्दिष्ट और निर्विवाद रीतिपर उस समाज के लोग उसका पालन करते हों, वह उस जाति या समाज का आचार कहलाता है। उसी को इस देश की भाषा में देशाचार या लोकाचार कहते हैं।

## क़ानून किस आचार को वैध मानता है?

वर्त्तमान क़ानून किसी देश या जाति के आचार को तबतक वैध या उपग्राज्य नहीं मानता, जबतक उस में निम्नलिखित चार योग्यतायें न हों:—

(१) वह आचार दीर्घकाल से उस जाति में प्रचलितहो।

(२) परिवर्त्तन शील न हो अर्थात् बीच में उस में कोई विकार उत्पन्न न हुआ हो।

(३) युक्तियुक्त और बुद्धिग्राह्य हो।

(४) धर्मशास्त्र के विरुद्ध न हो अर्थात् धर्मशास्त्र में उस के लिए प्रमाण मौजूद हो।

उक्त चार योग्यताओं के होने से ही कोई आचार वर्त्तमान क़ानून के रूप में परिणत होसकता है, अन्यथा नहीं। अब हम को देखना यह है कि विधवाविवाहमें ये चारों योग्यतायें मौजूद हैं या नहीं?

पहली कसौटी में जब हम इसको परखते हैं तो प्राचीन समय में इसका यहां प्रचलित होना न केवल श्रुति और स्मृतियों के प्रमाणों से (जैसा कि पहले अध्याय में हम दिखला

चुके है ) सिद्ध है, किन्तु उस निषेध से भी जो किसी किसी ग्रन्थ में इसका पाया जाता है, यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है कि पहले यहां इसका प्रचार था, अन्यथा आजाति में उसका निषेध हो ही नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त अब पुराणों में नियोग तक के (जिसको आजकल की सभ्यता स्वीकार नहीं करती) उदाहरण पाये जाते हैं, तब विधवा विवाह को नवीन आचार कहने का साहस कोई कर नहीं सकता।

दूसरी कसौटी में जब हम इसको परखते हैं तो इसमें नियोग के समान परिवर्तन शीलता भी हम नहीं पाते। नियोग की रीति परिवर्तित होते होते आज बिलकुल नामशेष होगई, पर विधवाविवाह की रीति में आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुवा। यह बात दूसरी है कि जाति के किसी समुदाय विशेष में इसका प्रचार कम हो गया हो या नहीं रहा हो। प्रचार तो और भी बहुत से अच्छे आचारों का जैसा कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, युवाविवाह, स्त्रीशिक्षा, समुद्रयात्रा और शूद्राध्ययन आदि हैं, लुप्त हो गया था। यदि इनका पुनः प्रचार करना किसी नवीन आचार की स्थापना करना नहीं है, तो विधवाविवाह को शतजन्म में भी कोई प्राचीन आचार के विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सकता। इसकी सत्ता और रूप में आज तक कोई विकार उत्पन्न नहीं हुवा और न हो सकता है। भला क्योंकर हो जबकि प्रत्येक सभ्यजाति में बिना विवाह सम्बन्ध के स्त्री-पुरुष समागम पाप समझा जाता है। अतएव जबतक स्त्री पुरुषों में परस्पर साहचर्य की योग्यता है, तब तक विवाह की रीति में चाहे आंशिक भेद हो, पर उसके उद्देश्य और रूप में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

तीसरी कसौटी में जब इसको परखा जाता है तो केवल मानुषिक विवेक ही बालविधवाओं को वैधव्य की भयानक दशा में रखने के प्रतिकूल नहीं किन्तु मानुषिक हृदय भी मानव समाज के अर्द्धाङ्ग की उस दुर्दशा को, जो वैधव्य से उत्पन्न होती है, स्मरण करके कम्पित और द्रवित हो जाता है। कोई विवेकशील और हृदयवान् मनुष्य अपनी पुत्रियों और भगिनियों को वैधव्य जैसी भयानक और शंकास्पद दशामें देखना पसन्द नहीं कर सकता। विवेक तो हमको मनुष्यों के ही नहीं, किन्तु प्राणिमात्र के सुख दुःख को अपने ही समान अनुभव करने की प्रेरणा करता है, फिर यदि हम अपनी पुत्रियों के ही अथाह दुःख पर ध्यान न देकर और आप बूढ़े तथा शक्तिहीन होकर भी संसार के आमोद प्रमोद से मुंह न मोड़ें, क्या इसीका नाम विवेकशीलता है? विवेक तो एक ओर यदि हमारा हृदय भी पत्थर नहीं होगया है, तो हमको इस बात की कदापि आज्ञा नहीं देना कि हम अपनी प्यारी पुत्रियों को आजीवन वैधव्य की आगमें जलता हुवा देखें और आप संसार के रागरंग और भोग विलास से मरते दम तक मुंह न मोड़ें।

यदि प्राकृतिक दृष्टि से इसविषय को देखा जाय तो मनुष्य की साधारण बुद्धि भी यह बात बतलाती है कि प्रकृति देवी ने जिस उद्देश के लिए पुरुष को उत्पन्न किया है, उसी उद्देश की पूर्ति के लिए संसार में स्त्रियां भी उत्पन्न कीगई हैं। जब पुरुष बिना पत्नी के मनुष्यजन्म के उद्देश को पूरा नहीं कर सकता तो स्त्री बिना पुरुष के अपने जन्म को कैसे सार्थक बना सकती है? पुरुष तो बलवान् होने से बिना स्त्री के भी कथञ्चित् अपना निर्वाह कर सकता है, पर स्त्रियां

जिनको प्रकृति ने ही निर्बल बनाया है, विना पुरुषकी सहायता के अपनी कठिन जीवन यात्रा को कैसे पूरा कर सकती हैं? इस दशा में बालविधवाओं को विवाह से रोकना केवल बुद्धि का ही दुरुपयोग नहीं है, किन्तु प्राकृतिक नियमों से युद्ध करना भी है।

नैतिक दृष्टि से देखने पर भी मनुष्य की बुद्धि, उस अन्याय और अत्याचारकी जो निरपराध बालविधवाओं पर किया जारहा है और उन पाप और अनर्थों की जो विधवा-विवाह के न होने से समाज में प्रवृत्त होरहे हैं, कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती। यदि कोई क्षुधा के वेग में चोरी करता है या अभक्ष्य खाता है, तो नैतिक दृष्टि से उसका इतना दोष नहीं, जितना कि उसको भूखा मारनेवालों का या उसकी भूख की उपेक्षा करनेवालों का है। अतएव जो लोग बालविधवाओं को वैधव्य का जीवन व्यतीत करने के लिए बाधित करते हैं, वे न केवल उनके साथ अन्याय करते हैं, किन्तु गुप्त व्यभिचार, गर्भपात और भ्रूणहत्या जैसे महापापों को समाज में फैलने का अवकाश भी देते हैं।

सामाजिक दृष्टि से देखने पर भी मनुष्य की साधारणबुद्धि विधवाविवाह की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं कर सकती। यदि युवा और अधेड़ पुरुषों का हित भी इसमें समझा जाता है कि वे जीवन की इस विषमयात्रामें विना स्त्रीके न रहें, तब बालविधवाओं को जिनमें न बाहुबल है, न विद्याबल, अपना पहाड़ सा जीवन प्राकृतिक सखा पुरुष के विना व्यतीत करने के लिए बाधित करना; न केवल समाज में दुराचारों की वृद्धि करना है, किन्तु दुःखी और सन्तप्त लोगों की संख्या को भी बढ़ाना है। क्या वह समाज जिसमें लाखों कुलीन विधवायें दिनरात शंकास्पद

जीवन व्यतीत करती हुई चिन्तानल में जल रही हों, कभी शान्ति और स्वस्ति का मुंह देख सकता है ?

अबरही चौथी कसौटी धर्मशास्त्र के विरुद्ध न होना सो इसकी परीक्षा हम पहले अध्याय में सप्रमाण करचुके हैं। अतएव धर्मशास्त्र के अनुकूल होने की योग्ता भी इसमें पूरी पूरी है। इससे सिद्ध है कि उक्त चारों योग्यतायें जो किसी आचार को कानून की दृष्टिमें उचित, पूर्ण और उपयोगी ठहराती हैं, विधवा-विवाह में मौजूद हैं। यही कारण है कि हमारी विचारशीला गवर्नमेन्टने इन चारों कसौटियों में परखकर ही इस आचारको क़ानून के स्वरूप में परिणत किया है, जो विधवाविवाह एक्ट १५ सन् १८५६ के नाम से प्रसिद्ध है। पाठकों की अभिज्ञता के लिए हम उस क़ानून की धाराओं का भावानुवाद यहां पर देते हैं:—

## विधवाविवाह एक्ट नं० १५ सन् १८५६।

प्रयोजन—उस क़ानून के अनुसार जो ब्रिटिश भारत में उन देशों की दीवानी अदालतों में प्रचलित है, जो सरकार ईस्टइण्डिया कम्पनी बहादुर के अधिकार में हैं, हिन्दू विधवायें ( कुछ को छोड़कर ) एकवार विवाह होजाने के कारण नियमपूर्वक दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं और पुनर्विवाह से उक्त विधवाओं की जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह दूषित ठहरती है और पैत्रिक दाय में भाग नहीं पाती।

हिन्दुओं की अनिच्छा के कारण ही अबतक उक्त क़ानून में कुछ सुधार न होपाया। परन्तु अब सरकार को मालूम हुआ है कि हिन्दूसमाज का एक विशिष्टभाग इस बात का इच्छुक है कि प्रचलित सरकारी क़ानून में ऐसा सुधार कर दिया जाय कि भविष्य में वे हिन्दू जो अपने धर्म या विवेक

के अनुसार ( चाहे प्रचलित रीति के विरुद्ध ही क्यों न हो ) विधवा का पुनर्विवाह करना चाहें, उनके लिए कानूनी कोई रुकावट न रहे। सरकार की दृष्टि में उनकी यह इच्छा न्याय-संगत है और इससे सर्वसाधारण का हित एवं उन्नति अभीष्ट है। अतएव हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को क़ानून में वैध ठहराने के लिए निम्नलिखित आज्ञायें दीजाती हैं:—

## हिन्दू विधवाओं का पुनर्विवाह कानून में वैध है।

धारा १—केवल इस कारण से कि किसी हिन्दू स्त्री का विवाह या मंगनी किसी दूसरे मनुष्य के साथ होगई है, जो उसके पुनर्विवाह के समय मर चुका हो, कोई विवाह हिन्दुओं में क़ानूनी तौर पर अवैध नहीं होसकता और न ऐसे विवाह की सन्तान दूषित या पितृदाय के अयोग्य समझी जायगी। चाहे किसी देश का आचार या किसी शास्त्र की आज्ञा उसके विरुद्ध भी हो।

## मृतपति की संपत्ति पर विधवा का कुछ अधिकार न होगा।

धारा २—वे समस्त अधिकार जो विधवा को अपने मृतपति की संपत्ति पर प्राप्त होंगे, जैसे उसकी जायदाद को अपने अधिकार में लेना या उससे अपना योगक्षेम करना या किसी वसीयतनामे या हिबानामे के अनुसार उसे सब या कुछ अधिकार दिये गये हैं, पुनर्विवाह करने पर वे उसी प्रकार समाप्त होजायंगे, जैसे मरने पर समाप्त होजाते हैं। मृतपति के निकटतम दायभागी अथवा कोई अन्य व्यक्ति, जिनको वह जायदाद विधवा के मरने पर मिलती, उसको प्राप्त करेंगे।

## मृतपति की सन्तान का संरक्षक।

धारा ३—यदि कोई ऐसी हिन्दू विधवा जिसकी मृतपति से उत्पन्न हुई सन्तान (जिसका कोई संरक्षक नियत नहीं हुआ है) अवयस्क (नाबालिग़) हो, पुनर्विवाह करना चाहे तो मृतपति के बाप या दादा, मां या दादी, या और कोई सम्बन्धी स्थानिक दीवानी न्यायालय में इस विषय का एक प्रार्थना पत्र देसकते हैं कि कोई योग्य पुरुष उसकी सन्तान का संरक्षक नियत किया जाय, न्यायालय यदि उचित समझे तो संरक्षक नियत करदे. वह संरक्षक माता का स्थानापन्न समझा जायगा। संरक्षक के नियत करने में न्यायालय उन नियमों का ध्यान रक्खेगा, जो मातृहीन तथा पितृहीन बालकों की रक्षा के सम्बन्ध में हैं। किन्तु उस दशा में जबकि मृतपति की जायदाद सन्तान के रक्षण और पालन के लिये पर्याप्त न हो; माता की आज्ञा के बिना संरक्षक नियत न होगा। हां यदि संरक्षक इसकी ज़मानत दे तो होसकता है।

## निःसन्तान विधवा दाय नहीं पासकती।

धारा ४—इस एक्ट के अनुसार कोई विधवा जो किसी संपत्तिशाली पुरुष की मृत्यु के समय निःसन्तान हो, इस योग्य न होगी कि वह उस सम्पत्ति को या उसके किसी भाग को दायभाग में प्राप्त कर सके। यदि इस एक्ट के प्रचलित होने से पहले वह निःसन्तान होने के कारण उस सम्पत्ति को दाय में पाने के अयोग्य होती।

## पुनर्विवाहिता विधवा के स्वत्व की रक्षा।

धारा ५—उन दशाओं के अतिरिक्त जो धारा २-३-४ में वर्णित हुई हैं, कोई विधवा पुनर्विवाह के कारण किसी ऐसी संपत्ति या स्वत्व से वञ्चित न होगी, जिसकी वह पुनर्विवाह

न करने की दशा में अधिकारिणी होती। प्रत्येक पुनर्विवाह करने वाली विधवा को दायभाग पाने के वही अधिकार प्राप्त होंगे, जो उस दशामें प्राप्त होते, यदि वह पुनर्विवाह उसका पहला विवाह होता।

## पुनर्विवाह की पर्याप्ति।

धारा ६—किसी कुमारी हिन्दू स्त्री के विवाह संस्कार में जो शब्द कहे जाते हैं या विधान और प्रतिज्ञायें की जाती हैं जिनसे वह विवाह नियमानुकूल और पूर्ण समझा जाता है, वे ही शब्द, विधान और प्रतिज्ञायें यदि किसी हिन्दू विधवा के पुनर्विवाह के समय प्रयुक्त होंगे तो उनका भी वही प्रभाव होगा। कोई पुनर्विवाह इस कारण से नियमविरुद्ध नहीं ठहराया जायगा कि उक्त शब्द, विधान या प्रतिज्ञायें विधवा के पुनर्विवाह से लागू नहीं हैं।

## बालविधवा के सम्बन्ध में।

धारा ७—यदि पुनर्विवाह करने वाली विधवा बाला (नाबालिग) हो, जिसका सहवास अपने पूर्वपति के साथ न हुवा हो तो वह बिना स्वीकृति अपने पिता, पिता न हो तो दादा, दादा न हो तो माता, माता न हो तो ज्येष्ठभ्राता और यदि ज्येष्ठभ्राता भी न हो तो किसी अन्य निकटतम सम्बन्धी के पुनर्विवाह नहीं कर सकती।

वे पुरुष जो जान बूझकर ऐसे विवाह में सहायता देंगे जो इस धारा के प्रतिकूल हो, दण्डनीय होंगे। दण्ड जुर्माना या कैद जिसकी अवधि एक वर्ष होगी, दोनों हो सकते हैं और इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे विवाह को न्यायालय अनुचित ठहरा देगा। किन्तु जो विवाह इस धारा के प्रतिकूल हो, यदि उसके वैध होने के सम्बन्ध में कोई विवाद उठ खड़ा

हो तो उसे अवैध न माना जायगा, जबतक कि उसके विरुद्ध सिद्ध न हो। पति पत्नी के सहवास के उपरान्त कोई ऐसा विवाह अवैध नहीं ठहराया जायगा। विधवा के युवती (बालिग़) होने की दशा में या जिसका सहवास अपने पूर्व-पति के साथ हो चुका हो, विधवा की स्वीकृति उसके पुनर्विवाह को उचित और वैध ठहराने के लिए पर्याप्त होगी।

## सिद्धान्त और आचार।

अब प्रश्न यह होता है कि जब विधवाविवाह में क़ानून के लिये अपेक्षित चारों योग्यतायें पूर्ण रूप से विद्यमान थीं, तब इसका कुलीन लोगों में अप्रचार क्यों हुवा और क्यों अब तक धार्मिक जगत् में यह अच्छी दृष्टि से नहीं देखाजाता? इसका कारण यह है, जब कोई जाति सिद्धान्तों की उपेक्षा करके आचार की उपासना करने लगती है। या यों कहना चाहिये कि अपने विवेक और प्रत्यय पर भरोसा न करके प्रत्येक बात में दूसरों का सहारा ढूंढने लगती है, तब उसमें अन्धपरंपरा फैलती है और उसकी दृष्टि इतनी संकुचित हो जाती है कि आचार की कटीली झाड़ियों से निकलकर वह सिद्धान्त की सुरम्य वाटिका में पहुंच ही नहीं सकती। पूर्वकाल में चाहे विद्या और सभ्यता की इतनी उन्नति न हुई हो, जितनी कि अब है और आजकल के समान हमारे पूर्वजों को बौद्धिक विकास के लिये भिन्न २ सभ्यताओं का इतना विशाल क्षेत्र भी न मिला हो, जितना कि हमको प्राप्त है। परन्तु यह कहने में हमको कुछभी सङ्कोच नहीं है कि हमारे समान हमारे पूर्वज अन्धपरंपरा के अनुयायी न थे, वे सिद्धान्तवादी और सारग्राही थे। यद्यपि आचार को वे एक धर्म का लक्षण मानते थे, तथापि उन्होंने सिद्धान्त को उसकी

पूंछ कभी नहीं बनाया । प्रत्युत प्रत्येक समय में उनके नियत किये हुवे सिद्धान्तों के अनुसार ही लोक में आचार की प्रवृत्ति हुई है। उनमें नेतृत्व शक्ति थी, हम सर्वथा अनुयायी होगये हैं, बस यही हममें और उनमें अन्तर है।

हम यह नहीं कहते कि उनमें भूल या त्रुटि नहीं थी, या उनके आचार विचार सर्वथा निर्दोष और पूर्ण थे। भ्रान्ति और अपूर्णता का होना सर्वत्र और सब कालों में मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर चाहे उनके बहुत से विचार और सिद्धान्त वर्तमान परिस्थिति में उपयुक्त न समझे जांय और यह उनपर ही क्या निर्भर है, हमारे बहुत से आचार विचार भी सम्भव है कि हमारी सन्तान की दृष्टि में हेय हों। तौ भी यह कहने में हमें संकोच नहीं है कि अपने समय के वे अच्छे व्यवस्थापक ही नहीं, किन्तु प्रयोजक भी थे। उनमें समयानुसार अपने समाज के लिये क़ानून बनाने की योग्यता ही न थी, किन्तु वे उसका उपयोग करने में भी कुशल थे। हम लोगों में चाहे हम अपनी विद्या और सभ्यता का कितना ही अभिमान करें, उस नेतृत्व शक्ति का सर्वथा अभाव होगया है। हम शास्त्री और आचार्य होकर भी यही नहीं कि समाज के लिए उपयुक्त नियम नहीं बना सकते, किन्तु हमारा अपना भी कोई सिद्धान्त या उद्देश नहीं होता। हम अपने व्यक्तिगत कर्तव्य के लिए भी दूसरों का मुंह ताकते हैं। कोई कैसा ही अच्छा आचार हो, केवल हमारा विवेक ही नहीं किन्तु शास्त्र, देश और काल भी उसकी पुष्टि करते हों, पर यदि भेड़ाचाल के वह विरुद्ध है तो उसके करने का तो एक ओर कहने का भी हमको साहस नहीं होता। हम उसके लिए उन लोगों का मुंह ताकते हैं, जो केवल रूढ़िपूजा को ही अपने जीवन का उद्देश समझते हैं।

इस गतानुगति नेही पैरों के होने हमको लूला और आंखों के होते अन्धा बना दिया है। जो आचार हमारे समाज को निर्बल और निकम्मा बनारहे हैं, जिनके कारण हम आप अपने ऊपर अन्याय और अत्याचार कर रहे हैं, उनके दुष्ट परिणामों को देखते और भोगते हुवे भी हम उनके विपाक प्रभाव से अपने समाज को रक्षा नहीं कर सकते। ऐसो दशा में यदि हमारे समाज से विधवाविवाह का आचार लुप्त होकर बाल-विवाह और वृद्धविवाह जैसे जातिनाशक आचार प्रचलित हो गये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

## शूद्र और विधवाविवाह ।

हम में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शूद्रों में विधवाविवाह का प्रचार होने से द्विजों के लिए इसे अनुपादेय ठहराते हैं। आचार परीक्षा की यह विचित्र कसौटी है, जिस काम को शूद्र करें, द्विजों को उसके विपरीत अवश्य करना चाहिये। जो लोग इस क्षुद्र हेतुओं से विधवाविवाह को हेय सिद्ध करना चाहते हैं, उनका प्रयासइस विकास के युग में कहांतक सफल होगा ? क्या शूद्र का स्पर्श होने से सोना कभी लोहा बन सकता है ? यदि नहीं बन सकता तो शूद्रों की छूत विधवा विवाह को भी नहीं लगसकती। अच्छा, हम पूछते हैं, शूद्रों में यह आचार आया कहांसे ? उनमें स्वयं तो किसी आचार के निर्माण करने की योग्यता होती ही नहीं, वे तो भगवान् कृष्ण के वचनानुसारः—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अनुकरण शील होते हैं। जैसा द्विजों को करता हुवा देखते हैं, वैसाही वे भी करने लगते हैं। अब भी जो २ आचार द्विजों

में प्रचलित हैं, प्रायः उन्हीं का अनुकरण शूद्र भी करते हैं। यह बात दूसरी है कि उनके विधानों में कुछ भेद हो, सो यह विधानभेद परस्पर साम्य रखते हुवे द्विजों में भी अनिवार्य है। इस दशा में शूद्रों को किसी आचार का निर्माता और उसके विधानों का व्यवस्थापक ठहराना ब्राह्मणों के जन्मसिद्ध अधिकार पर आक्रमण करना है। एक बात यह भी है, प्रत्येक समाज में निम्नकक्षाके लोग ही मूर्ख और अन्धविश्वासी होने के कारण प्राचीन आचार विचारों की रक्षा करते हैं उच्चकक्षा के लोग अपनी विद्या और बुद्धि के घमण्ड में उनकी उपेक्षा करते हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अबतक जितना रूढ़िवाद, निम्नकक्षा के लोगों में पाया जाता है, उसका दशमांश भी उच्चश्रेणी के लोगों में नहीं मिलता। सभ्यता नामही परिवर्तन का है, जिनमें जितनी अधिक परिवर्तन की योग्यता है, वे उतने ही अधिक सभ्य कहलाते हैं। अतएव हमारे रूढ़िवादी भाइयों को तो इसविषय में शूद्रों का कृतज्ञ होना चाहिये कि उनके कारण अबतक हमारे समाज में बहुत से प्राचीन आचार, विचार सुरक्षित हैं। अन्यथा यदि वे उनपर अपनी प्रतिनिधि-त्वता की मोहर न लगाते तो आज कहीं उनका चिन्ह भी दृष्टि-गोचर न होता।

यह कैसे आश्चर्य की बात है कि द्विज बिना विवाह के अपने वर्ण की स्त्री को ही नहीं किन्तु अन्य वर्ण की स्त्री को भी अपनी उपपत्नी बनासकते हैं और यह दुराचार जिसको शूद्र भी अच्छा नहीं समझते, हमारे समाज की दृष्टि में नहीं खटकता। यदि कहो कि समाज ने किसी को इसकी आज्ञा कब दी है? वे अपनी कामवासना को तृप्त करने के लिए ऐसा करते हैं और इसका दायित्व उन्हींपर है। तो हम पूछते हैं,

जो समाज ऐसे दुराचारियों को कुछ दण्ड नहीं देसकता, यहां तक कि उनको किसी प्रायश्चित्त के योग्य भी नहीं समझता, उसमें कोई सुव्यवस्था और सुमर्यादा प्रतिष्ठित रहसकती है? इस बात में तो द्विज शूद्रों के भी कान काटते हैं, पर नियम पूर्वक किसी विधवा के साथ विवाह करने में उन्हें शूद्रों की छूत लगने का डर है।

## संस्कार और आचार।

यद्यपि प्रत्येक समाज में प्रचलित रूढ़ आचारों के अनुसार ही क़ानून बनाये जाते हैं, तथापि उन आचारों को क़ानून की पदवी उन्हीं समाजों में दीजाती है, जिनमें समय की गति के साथ चलने की योग्यता नहीं होती या कम होती है। असभ्य और अनुन्नत जातियों में ही आचार का अनुशासन अधिकतर देखने में आता है। जो रिवाज जिस ढंग पर उनमें पहले से चलेआते हैं उनका आंखें मींचकर पालन करनाही वे अपना धर्म समझते हैं। वे उनके गुण दोषों को नहीं देखते और न इसकी क्षमता ही उनमें होती है। कैसा ही बुरा आचार हो और उस का कितना ही दूषित प्रभाव समाज पर पड़ता हो, उसमें परिवर्तन तो एक ओर कम से कम संशोधन करना भी वे अपने पूर्वजों का अपमान समझते हैं। अन्धे की लाठी के समान एक मात्र लोकाचार ही उनका आदर्श होता है और भूतकाल तक ही उनकी दृष्टि परिमित होती है।

इसके विपरीत सभ्य और उन्नत समाज प्रत्येक आचार के (चाहे वह प्राचीन हो वा नवीन) गुणदोषकी परीक्षा करते हैं और उसका अच्छा वा बुरा जो प्रभाव समाज पर पड़ता है उसको भी अपनी सूक्ष्मदर्शिनी बुद्धि से देखते हैं। उनको भूत से अधिक वर्तमान की और वर्तमान सेभी अधिक भविष्य की

चिन्ता होती है। वे विकार और संस्कार, स्थिति और गति इन दोनों के मर्म को खूब समझते हैं। वे जानते हैं, कैसा ही स्वच्छ जल क्यों न हो, यदि उसकी गति को रोककर उसे स्फटिक के हौज में भी रक्खा जायगा तो वह सड़ जायगा। इसी प्रकार कोई कैसी ही उत्तम वस्तु हो; यदि समयानुसार उसका संस्कार न किया जायगा तो उसमें दोष और विकार उत्पन्न होकर उसीको नष्ट न करेंगे, किन्तु पार्श्ववर्ती पदार्थों पर भी अपना दुष्प्रभाव डाले बिना न रहेंगे। अतएव उन्नति शील समाजों के नेता बन्द जल की भान्ति जो आचार सड़गये हैं, प्रतियत्न और संस्कार के द्वारा उनके दोषों को दूर करके उनको शुद्ध और समाज के लिए हितकर बनाते हैं। जो बिलकुल सड़गये हैं, उनमें उचित परिवर्तन और जो संस्कार के योग्य हैं, उनका आवश्यक संशोधन करके देश काल और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार नियम बनाते हैं और सबसे पहले स्वयं उनका पालन करके दूसरों के लिए आदर्श बनते हैं।

पर भारत का तो बाबा आदम ही निराला है। भारतीय समाजों के नेता राजनैतिक दौड़ में तो अपने पङ्गु समाज को अन्य जातियों के बराबर या उन से भी आगे बढ़ाहुवा देखना चाहते हैं, परन्तु सामाजिक सुधार के नाम से वे मुँहपर हाथ रखते हैं और कहते हैं कि जिनका हम सुधार करना चाहते हैं, जब वेही बितकगये, तो फिर हम सुधार किसका करेंगे ? परन्तु प्रश्न यह है कि जिस समाज को उसके भीतर के कीड़े खारहे हों और जो चारों ओर से कुरीतियों की दल-दल में फंसा हुवा हो क्या वह उस राजनैतिक दौड़ में जिसमें एकसे एक बलशाली और सङ्गठित समाज अपना २ करतब और हुनर दिखलारहे हैं, भाग लेना तो एक ओर खड़ा भी रहसकता

है ? जबतक आप हम अपनी सहायता न करेंगे, ईश्वर भी हमारी सहायता नहीं करसकता। अपने समाज से उदासीन होकर और उसको कुरीतियों की दलदल में फंसा हुवा छोड़ कर हमारा जातीय मोक्ष एक सुखस्वप्न से बढ़कर नहीं है।

## अन्धअनुकरण और अन्धविश्वास।

कहाजाता है कि भारत में अपने पूर्वजों के प्रति भक्ति विशेष है, यही कारण है कि यहां प्राचीन रीति नीतियों का आदर विशेष किया जाता है। जबतक भारतीयोंके हृदय में यह भक्ति और कृतज्ञता का भाव है, वे अपने पूर्वजों का अनुकरण करना नहीं छोड़ सकते। हम कहते हैं,पृथिवी में ऐसा कौनसा देश है, जहां के निवासियों में अपने पूर्वजों की भक्ति और स्मृति नहो। सचतो यह है कि संसार में यदि जातीय जीवन का कोई स्रोत है तो वह यही पितृभक्ति और पूर्वजों की स्मृति है। पर हम शोक के साथ देखते हैं कि दूसरी जातियों के अन्ध अनुकरणमें हम अपने पूर्वजों के आदर्शों को तो छोड़ते जाते हैं, केवल लकीर पीटने का नाम हमने भक्ति रक्खा है। अपने पूर्वजों की सच्ची भक्ति यह है कि उन्होंने हमारे जातीय जीवन को जिस सांचे में ढाला है और मनुष्य जीवन का जो उच्च आदर्श हमारे सामने रक्खा है, इस उन्नति की दौड़ में यथेच्छ भाग लेते हुवे और दूसरी जातियों की शिक्षा और सभ्यता से सामयिक लाभ उठाते हुवे भी हम उसको अपने हृदय से न भुलावें। हमारे जातीय जीवन के विकास के लिए दूसरों का अन्ध अनुकरण जितना हानिकर है, उससे कहीं अधिक अपनों का अन्धविश्वास और अन्धभक्तिहै। जहां अन्ध अनुकरण हमें धोबी का कुत्ता बनाता है, जो न घर का रहने दे न घाटका; वहां अन्धविश्वास हमको कूपमण्डूक बनाता है,

जिसमें टर्र टर्र करते हुवे ही हम अपना जीवन समाप्त कर-देते हैं। अन्ध अनुकरण से हम आत्मगौरव और अन्धविश्वाससे आत्मप्रत्यय को खो बैठते हैं। अतएव जातीय जीवन की रक्षा के लिए इन दोनों का ही नियन्त्रण आवश्यक है। हमारे बहुत से भाई अन्धविश्वास की पुष्टि में मनुका यह प्रमाण देते हैं:—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतांमार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते॥ ( ४। १७८ )

उनके प्रति हमारा यह निवेदनहै कि मनु इस पद्यमें आचारों का वर्णन नहीं करता, वह केवल वह मार्ग या आदर्श हमारे सामने रखता है जिसके द्वारा हमें पितृपितामह का अनुकरण करना चाहिये। हम अपने पूर्वजों की चालपर चलकर भी दूसरों के सद्गुणों से लाभ उठा सकते हैं। यह अवश्य नहीं है कि हम अंगरेज़ वनकर ही उनकी अच्छी बातें सीख सकें, भारतीय बने रहकर भी हम उनसे यथासमय लाभ उठासकते हैं। वस मनुका अभिप्राय इस पद्य से केवल इतना ही है कि हम अपनी जातीय सत्ता न खोकर सन्मार्ग का अनुसरण करें। इसका यह आशय कदापि नहीं होसकता कि हम सदामरी मक्खी मारते रहें और जिस दशा में हमारे पूर्वज थे, या इस समय हम हैं, उससे आगे बढ़ने की चेष्टा न करें। यदि मनु का यही आशय होता तो दूसरे अध्याय में वह यह न लिखता:—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥

( मनु० अ० २ प० २३९-२४० )

इन पद्यों में मनु स्पष्ट कहता है कि विद्या, धर्म और सद्वृत्त हमको क्रमशः नीच, शूद्र और शत्रु से भी ग्रहण करने चाहियें ) तब उसका पूर्व पद्य से यह आशय कदापि नहीं हो-सकता कि हम अपने बड़े वूढ़ों के दुराचारों का भी यदि उ-न्होंने कोई किये हों आंखें मीचकर अनुसरण करें। जब हमारे पूजनीय आचार्य खुद हमें यह उपदेश करते हैं:—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"

( तैत्तिरी ० नि ० १ )

तब हम आंखें बन्द करके कदापि उनका अनुसरण नहीं कर सकते।

## विवेक और आचार।

यह भी तो देखना चाहिये कि परमात्माने हमको मनुष्य बनाया है और हिताहित ज्ञान के लिए बुद्धि प्रदान की है। न तो हम पशु ही हैं कि हमारी इच्छा और स्वीकृति के विना कोई जहां चाहे हमको लेजाय और जो चाहे हमारे साथ सलूक करे। न हम कोई यन्त्र ही हैं कि जिस प्रकार चाहे हमें घुमावे और जो चाहे काम लेवे। हमको ईश्वर ने दो प्रकार की मानसिक शक्तियां प्रदान की हैं, एक संवेदन और दूसरी विवेचन। इन्हीं दोनों शक्तियों के मिलाप से विवेक की उत्पत्ति होती है। संवेदन शक्ति इसलिए दी है कि हम उससे अपने ही समान दूसरों के सुख दुःख का अनुभव करें और विवेचन शक्ति का तात्पर्य यह है कि हम जिस बात को अपने लिए न चाहें, उसका प्रयोग दूसरों के लिए भी न करें। यदि मनुष्य होकर हमने इन दोनों गुणों का अनुशीलन नहीं किया तो हम चाहे धर्मशास्त्र के आचार्य हों वा नीति शास्त्र के प्रवक्ता, हमारी मनुष्यता संसार में धोखे की टट्टी है।

थोड़ी देर के लिए मानलो कि विधवाविवाह धर्मशास्त्र और लोकाचार दोनों के विरुद्ध है, तब भी यह प्रश्न होता है कि क्या मनुष्य की ये दोनों ईश्वरप्रदत्त शक्तियां भी इसको हेय समझती हैं? यह कदापि हो नहीं सकता। जो संवेदन शक्ति मनुष्य को पशु पक्षियों का भी दुःख अनुभव कराती है, उसको रखता हुवा मनुष्य अपनी पुत्रियों के उस अथाह दुःख पर जो दोचार दिन, मास या वर्ष ही नहीं, किन्तु आजीवन उनको चिन्तानल में जलाता है, ध्यान न दे। तथा वह विवेचन शक्ति जो मनुष्य को "आत्मवत्सर्वभूतेषु" का पाठ पढ़ाती है, उसको अपनी पुत्रियों और बहनों को जड़वत् देखने के लिए बाधित करे?

यदि हमारा विवेक हमें स्त्री के वियोग में पुनर्विवाह करने के लिए प्रेरणा करता है और इसमें कोई धार्मिक या सामाजिक आपत्ति नहीं करता तो पति के न रहने पर स्त्री का भी दूसरा विवाह करना उसी विवेक के अनुसार दूषित नहीं होसकता। जो दशा विना स्त्री के हमारी होसकती है, वही विना पति के स्त्री की भी होसकती है। अतएव अपने लिये तो बुढ़ापे में भी जो विरक्त होने की अवस्था है, स्त्री की आवश्यकता समझना और बालविधवाओं को युवावस्था में भी जो स्वाभाविक रीति पर क्रीड़ा और विनोद की अवस्था है, पति के अयोग्य समझना क्या यही हमारा विवेक है और इसी के बलपर हम "यस्मिन्त्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।" इस सिद्धान्त के अनुयायी होने का दम भरते हैं? जिस बात को हम अपने लिए नहीं चाहते, उसका प्रयोग दूसरों के लिए करना विवेक की विडम्बना करना है।

## विवेक की प्रधानता ।

यद्यपि मनु ने धर्म के परखने की चार कसौटी बतलाई हैं; श्रुति, स्मृति, सदाचार और विवेक । तथापि इन चारों में विवेक ही प्रधान है । क्योंकि बिना विवेक के न तो हम शास्त्र से कुछ लाभ उठा सकते हैं और न अनाचार और मिथ्याचार की फैली हुई भाड़ियों में से सदाचार के फूल ही चुन सकते हैं । चाणक्य ने ठीक ही कहा है:—

> यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
> लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

विविध शास्त्र और आचार तो केवल दर्पण का काम करते हैं, देखने वाली आंख तो हमारी बुद्धि ही है यदि आंखों से हम अंधे हैं तो एक क्या हज़ार दर्पण भी हमको कुछ नहीं दिखला सकते । आंखों के होने पर हम बिना दर्पण के भी देख सकते हैं । अतएव विवेक से बढ़कर संसार में और कोई कसौटी भलाई या बुराई के परखने की नहीं है । संसार में सुख दुःख और पुण्य पाप की भाँति गुण दोष मिश्रित हैं । यदि आजकल बड़े से बड़े मनुष्य भूल कर सकते हैं तो प्राचीन काल में भी उसका होना सम्भव था । इस दशा में चाहे कोई शास्त्र हो वा आचार, निर्दोष नहीं हो सकता । जिस विधाता ने इस सृष्टि में गुणदोष का संमिश्रण किया है उसी ने मनुष्य को उनकी परीक्षा करने के लिए बुद्धि की कसौटी भी प्रदान की है । यदि मनुष्य ही उसका उपयोग करने में प्रमाद करेगा तो पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति के अनुसार और कौन संसार में इस कर्त्तव्य का पालन कर सकता है :—

> नरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
> विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ॥

शास्त्र या लोकाचार हमारे लिये एक प्रदर्शिनी है, जिनमें भाँति भाँति के पदार्थ अपने २ स्थान पर रक्खे हुवे हैं, उनमें कौन हमारेलिए उपयोगी हैं और कौन अनुपयोगी? किस दशा में किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिए? इसका निर्णय केवल हम अपने विवेक से कर सकते हैं। यद्यपि भिन्न २ शास्त्रों तथा आचारों के अध्ययन और परिशीलन से हमारा विवेक परिपुष्ट होता है, तथापि वे विवेकबुद्धि का साधन मात्र हैं, मनुष्य जन्म का साध्य या उद्देश्य केवल विवेक ही है। शास्त्र या लोकमत के अभाव में हम विवेक से काम ले सकते हैं, पर विवेक के अभाव में हमारे लिए सारे शास्त्र और आचार व्यर्थ हैं, जैसे अंधे के लिए दर्पण। अतएव शास्त्र और आचार की विद्यमानता में भी हम विवेक की उपेक्षा नहीं करसकते।

## समय का आचार पर प्रभाव।

समय की गति के साथ आचार भी सदा बदलते रहते हैं, देश और काल के व्यवधान से उनमें बड़े २ अन्तर और परिवर्तन होजाते हैं। वैदिक और बौद्धकाल को तो जाने दीजिए, मुसलमानों के आने से पूर्व पृथ्वीराज के समय तक जो आचार हमारे देश में प्रचलित थे आज कहीं उनका चिन्ह भी दृष्टिगोचर नहीं होता। 'संसार' शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसमें सदा कुछ न कुछ परिणाम होता रहे। इसके अतिरिक्त मनुष्य स्वाभाविक रीति पर प्रगतिशील है, वह पशुओं के समान जिस अवस्था में प्रकृति ने उसे उत्पन्न किया है, पड़ा रहना नहीं चाहता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ना चाहता है और इसी के लिए संसार में ये व्यक्तिगत और जातिगत युद्ध होरहे हैं। यही कारण है कि

परिणाम का सब से अधिक प्रभाव मनुष्य के आचार विचारों पर पड़ता है। अब हम निदर्शन की रीतिपर कुछ आचारों को दिखलाते हैं, जो पहले क्या थे और अब क्या हैं ?

( १ ) पहले यहाँ बालविवाह का कोई नाम भी न जानता था, अब बड़ी उमर तक लड़के लड़कियों का क्वारा रहना कुल की खोट समझी जाती है।

( २ पहले लड़के और लड़कियां दोनों ब्रह्मचर्य धारण करते थे, अब लड़कियों की कौन कहे, लड़के भी उसके अयोग्य समझे जाते हैं।

( ३ ) पहले यहां पर्दे का रिवाज बिलकुल न था । स्त्रियां बेरोक टोक पुरुषों के समाज म जातीं और काम करती थीं । अब उनका बेपर्दा रहना और पुरुषों के समाज में जाना निन्दनीय समझा जाता है।

( ४ ) पहले कहीं २ स्वयंवर की रीति प्रचलित थी, अब उसका कहीं नाम भी नहीं सुनाजाता।

( ५ ) पहले यहां द्विजों में १६ संस्कारों का प्रचार था, अब सिवाय नामकरण, मुण्डन और विवाह के और किसी संस्कार का नाम तक लोग नहीं जानते।

( ६ ) पहले अश्वमेध, गोमेध और नरमेध यज्ञ होते थे, आजकल वे कलिवर्ज्य कहकर निषिद्ध किये गये हैं।

( ७ ) पहले मधुपर्क, श्राद्ध और यज्ञ में पशुवध किया जाता था, अब यह रीति अच्छी नहीं समझी जाती । पहले मांस के न खानेवाले भी देवकर्म और पितृकर्म में उसका खाना पुण्य समझते थे, अब मांस खाने वाले भी देव और पितरों के नाम से हिंसा करना अच्छा नहीं समझते।

( ८ ) पहले आर्ष विवाह में वरसे गऊ का जोड़ा शुल्क लिया जाता था अब कन्याविक्रय की प्रथा बहुत बुरी समझी जाती है।

( ९ ) पहले क्षत्रियों में गान्धर्व और राक्षस विवाह प्रचलित थे, अब कहीं उनका प्रचार देखने में नहीं आता।

( १० ) पहले उत्सर्ग और नियोग की प्रथायें प्रचलित थीं, अब इनको हिन्दू बहुत बुरा समझते हैं।

( ११ ) पहले अनुलोम और कहीं २ प्रतिलोम विवाह भी होते थे, अब अधिकांश हिन्दू इनका विरोध करते हैं।

( १२ ) पहले ब्राह्मण याजन और अध्यापन से वृत्ति करते थे, आजकल वे वृत्ति के लिए वाणिज्य, कुसीद और सेवाकर्म तक करते हैं।

( १३ ) पहले शूद्र केवल सेवाकर्म करते थे, आजकल वे अध्यापन और शासन तक का काम करते हैं।

( १४ ) पहले यहां चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म यथाविधि पालन किये जाते थे, अब ये दोनों नाम के लिए रहगये हैं, काम के लिए नहीं।

यह सूची बहुत कुछ बढ़ाई जासकती है, पर इसकी हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। इतने ही से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि समाज के आचारों पर समय का कितना प्रभाव पड़ता है। आजतक समयने कितने आचारों को मिटाया कितनों को चलाया और कितनों की काया पलटी, इसका हिसाब कौन लगा सकता है?

## देशका आचार पर प्रभाव।

समय के समान ही देशका भी आचारों पर प्रभाव पड़ता है। भिन्न २ देशों को तो जाने दीजिये, एक ही देशके एक प्रान्त

में जो आचार अच्छा समझा जाता है, वही दूसरे प्रान्त में बुरा समझा जाता है। जिस आचार को एक जाति धर्म और सभ्यता के अनुकूल समझती है, उसी को दूसरी जाति ठीक इनके प्रतिकूल समझती है। उदाहरणार्थ कुछ आचारों को हम यहांपर दिखलाते हैं:—

( १ ) दक्षिण प्रान्त में मामा की लड़की से विवाह करना बुरा नहीं समझा जाता, इस प्रान्त में इस आचार को बहुत बुरा समझते हैं।

( २ ) पंजाब में छूत छात और पर्दे का रिवाज बिलकुल नहीं, इस तरफ़ इनका बड़ा विचार किया जाता है।

( ३ ) इस प्रान्तमें सुहागिन स्त्रियों का नंगे सिर रहना अपशकुन समझा जाता है दक्षिण में इसके विरुद्ध उनका सिर ढकना अमाङ्गलिक समझा जाता है।

( ४ ) पूर्वके कुलीनों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है अन्यत्र यह अच्छी नहीं समझी जाती।

( ५ ) किसी २ जाति या समाज में वरविक्रय या कन्या विक्रय की रीतियां प्रचलित हैं। दूसरी जातियों में ये अच्छी नहीं समझी जातीं।

( ६ ) हिमालय की पहाड़ी जातियों में कहीं २ बहुपतित्व और कहीं २ पुत्रियों से वेश्यावृत्ति कराने की चाल है; जो अन्य जातियों में निन्दनीय समझी जाती है।

( ७ ) दक्षिण में कहीं २ पुत्रियों को देवदासी और स्त्रियों को देवपत्नी बनाने की चाल है, जिसको अन्य प्रान्त वाले महागर्हित समझते हैं।

( ८ ) किसी २ जाति में मांसभक्षण का प्रचार है कोई २ जाति इससे घृणा करती है।

( ९ ) मारवाड़ में चरसे का पानी पियाजाता है, अन्य प्रांतों में इसका रिवाज नहीं।

( १० ) बंगाल में हिन्दू मुसलमान बावरची के हाथ का खाना खाते हैं, दूसरे प्रांतों में मुसलमान का छुवा पानी तक नहीं पीते।

( ११ ) पंजाब में कहारों के हाथ का बना हुआ खाना सब हिन्दू खाते हैं, पूर्व में आठ कनौजिये और नौ चूल्हे की कहावत प्रसिद्ध है।

( १२ ) राजपूताने के ब्राह्मण पानी भरते और वर्तन साफ़ करते हैं, अन्य प्रान्तोंके ब्राह्मण ऐसा कदापि नहीं करसकते।

(१३ कान्यकुब्ज ब्राह्मण बाज़ारकी पूरी कचौरी नहीं खाते, पर मांस खाने में कुछ दोष नहीं समझते। गौड़ ब्राह्मण बाज़ार का सब कुछ खालेते हैं, पर मांस को छूते तक नहीं।

( १४ ) पंजाब में प्याज़ और पूर्व में लहसन खाने का रिवाज है युक्त प्रान्त के हिन्दू इन दोनों का विचार करतेहैं।

( १५ ) पश्चिम में हिन्दू मुसलमान नाई से हजामत बनवाते हैं, पूर्व में इसका विचार कियाजाता है।

( १६ ) कहीं २ मुसलमानों के बने हुवे बताशे, गट्टे और रेवड़ियां हिन्दू खाते हैं कहीं परहेज़ किया जाता है।

( १७ ) कहीं उच्च जाति के हिन्दू मद्य और चर्म का व्यवसाय करते हैं, कोई इनको अच्छा नहीं समझते।

( १८ ) पूर्व और दक्षिण में स्त्रियां खेती और दूकानदारी के सब काम करती हैं, इस प्रान्त में उनका परदे से बाहर जाना अच्छा नहीं समझा जाता।

कहाँतक गिनावें, संसार में एक भी आचार ऐसा नहीं मिलेगा, जिसका किसी देश में तो क्या किसी समाज में भी

समान रूप से उपयोग किया जाता हो और जिसके विषय में समाज की व्यक्तियों का परस्पर मतभेद न हो। यहां तक कि बहुत सी बातों में पिता पुत्र और भाई २ के आचार विचारों में बड़ा अन्तर होता है। इस दशा में हम किसी भी आचार को सब दशाओं में ग्राह्य या त्याज्य नहीं ठहरा-सकते। देश, काल और समाज की परिस्थिति के अनुसार सदा आचारों की परिणति होती रहती है।

## शासन का आचार पर प्रभाव।

शासन का भी चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक, समाज के आचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक शासन में जो आचार अच्छे समझे जाते हैं, दूसरे शासन में उनकी ऐसी काया पलट जाती है कि वे पहचानने में भी नहीं आते और बहुत से तो मिटजाते हैं। ब्राह्मणों के शासन काल में यहां विविध यज्ञों का अनुष्ठान करना ही सर्वोपरि आचार माना जाता था, उनमें बड़े लम्बे चौड़े विधान किये जाते थे, जिनसे हमारा प्राचीन साहित्य परिपूर्ण है। शूद्रों को उनमें सम्मिलित होने तथा वेदमंत्रों के सुनने तक का अधिकार नथा। यदि भूल से भी कोई शूद्र वेदमंत्र सुन लेता था, तो सीसा तपाकर उसके कान में भरदिया जाता था। सामान्य अपराध में शूद्रों को जो दण्ड दिया जाता था, ब्राह्मणों को नरहत्या करने पर भी वह दण्ड नहीं मिलता था। शूद्र यदि ब्राह्मण की निन्दा करे तो उसकी जीभ काटली जाती थी। चोरी और व्यभिचार के अपराध में उसको बधदण्ड दिया जाता था। उस समय के क़ानून का सारा जोर शूद्रों और निर्बलों पर था।

बौद्धों के शासन काल में ये आचार और विधान बिलकुल बदल गये। यज्ञों के स्थान में संघ स्थापित हुवे तथा भिक्षु

और होताओं का स्थान भिक्षु और श्रमणों ने घेर लिया। यज्ञ-शाला, पशुस्तम्भ और वेदि का चिन्ह मठ, स्तूप और चैत्यों ने मिटा दिया। पशुहिंसा के स्थान में जीवदया और जाति भेद के मुक़ाबिले में साम्यवाद का उपदेश होने लगा। बौद्ध राजाओं ने जो क़ानून बनाये, उन में जातिभेद का गन्ध भी न था। अब वे ही शूद्र जो ब्राह्मणों के पास बैठने से अपने देश या प्राण से हाथ धोते थे, ब्राह्मणों के साथ मिलकर बौद्धधर्म का उपदेश और प्रचार करने लगे।

अतः पश्चात् जब भगवान् शंकराचार्य की कृपा से वैदिक धर्मका पुनरुद्धार हुवा और विक्रम तथा भोज आदि राजाओं के हाथ में शासन की बाग आई, तब वेद के नाम से धर्म की प्रतिष्ठा तो की गई, पर उसका प्रवाह अब दूसरी ओर का बह निकला। अब जो आचार और विधान समाज में प्रतिष्ठित हुवे, वे खिचड़ी थे। यज्ञ और संस्कार ब्राह्मणों के प्रचलित हुवे, पर उनमें हिंसा बन्द की गई और उनके लम्बे चौड़े विधान भी कम किये गए। ब्राह्मण ग्रन्थों से उदासीन होकर विद्वान् उपनिषदों की शरण में आने लगे। देवमाला का स्थान मूर्तिपूजा ने तथा भग, अर्यमा, पूषा और सविता आदि वैदिक देवताओं का स्थान पौराणिक त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने अधिकृत करलिया। तत्पश्चात् श्री रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म की स्थापना करके भक्तिमार्ग का उपदेश किया। इनके अनुयायी ज्ञान और कर्मसे भक्ति को प्रधान मानने लगे। अब वह स्वर्ग जो पहले वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से और वह मुक्ति जो केवल ज्ञान से प्राप्त होती थी, भगवद्भक्ति और नामकीर्त्तन से मिलने लगी।

तदुपरान्त मुसलमानों के शासनकाल में तो इस देश की बिलकुल काया ही पलट गई । इस समय जो आचार और रीतियां हम लोगों में प्रचलित हैं, उनमें बहुतसा अंश मुसलमानी सभ्यता का भी मिश्रित है । यद्यपि सहवास के कारण मुसलमानों पर भी हमारी सभ्यता का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, तथापि विजेता होने से उनकी सभ्यता का हमपर अधिक प्रभाव पड़ा है । यही कारण है कि इस समय हम बोल, चाल रहन, सहन और पहनावे आदि में अधिकतर उन्हीं का अनुकरण करते हैं । इन्हीं के समय में कबीर, नानक, चैतन्य, दादू, रामानन्द, तुकाराम और रामदास प्रभृति महात्मा पुरुष हुवे जिन्होंने अपने जादू भरे उपदेशों से हिन्दू समाज की बिलकुल काया पलट दी । जो हिन्दू शूद्रों को अस्पृश्य समझते थे, इन महात्माओं के प्रेमपूर्ण उपदेश से मुसलमानों के साथ मिल जुलकर काम करने लगे ।

इसके बाद बृटिश शासन के स्थापित होने और पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार होने से भारत कुछ और ही होगया । अब न केवल हिन्दुओं का भारत है, न मुसलमानों का और न ईसाइयों का । अब यह सबका मिश्रित भारत है, इसमें सबका समान स्वत्व है और सब इसके अङ्ग हैं । अब इस देश में बसने वाली जितनी जातियाँ और संप्रदाय हैं, सबके लिए एक कानून और एक ही शासनपद्धति है । प्राचीन आचार और रीतियां बहुत सी तो मिटगईं. जो हैं उन्होंने नई सभ्यताओं से मिलकर बिलकुल नया रूप धारण कर लिया है । नवीनता बड़े वेग से प्राचीनता को दबा रही है या अपने अनुकूल बनारही है और क्यों न बनावे, जबकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नवीनता की ओर है, यह पुरानी बातों

को भी जब तक किसी नये सांचे में न ढालाजाय, पसन्द नहीं करता। सौन्दर्य जिसके मनुष्यमात्र उपासक हैं, इसी नवीनता का नामान्तर या रूपान्तर है "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"

## पाश्चात्य सभ्यता का आचार पर प्रभाव।

एशिया के जिन देशों में बृटिश शासन नहीं है, वहां भी पाश्चात्य सभ्यता अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलारही है। हमारा भारतवर्ष तो आज डेढ़सौ वर्ष से बृटिश शासन के अधीन है, फिर यदि यहां प्रतीच्य सभ्यता हमारे आचार विचारों को नये सांचों में ढालरही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हमारी शिक्षा, दीक्षा, विचार, भाषा, संस्थायें, यहां तक कि आध्यात्मिक विचार भी इसी के रंग में रंगे हुवे हैं। पाश्चात्य विज्ञान कीजबतक मोहर नहीं लगती, हमारे धार्मिक सिद्धान्त भी प्रमाण कोटि में आरूढ़ नहीं होते। इस पाश्चात्य सभ्यता के कारण हमारे आचार विचारों में जो परिवर्तन हुवे हैं और होरहे हैं, उनको हम संक्षेप से दिखलाते हैं:—

### खानपान।

खानपान को ही लीजिये। पहले हिन्दू बिसकुट, पाव-रोटी, विलायती मिठाई, जमा हुवा दूध, सोडावाटर और बर्फ आदि का परहेज़ करते थे, अब बड़े २ वाजपेयी और उपाध्याय विना रोक टोक इनका उपयोग करते हैं। जावा और मारीशस की चीनी, लिवरपोल का नमक अब हिन्दूधर्म को हानि नहीं पहुंचाता। बहुत से उच्चकुल के हिन्दू होटलों में खाते पीते हैं, इससे भी उनका धर्म नहीं जाता। मुसलमान का छुवा पानी और मिठाई हिन्दू नहीं खाते, पर उसके बनाये

अर्क़, शरबत, चटनी, माजून, गुड़, बताशे, कन्द और शकर में कुछ दोष नहीं समझते। पाइप का पानी जिसको डोम चमार तक साफ़ करते हैं और सब एक साथ भरते हैं, अब हिन्दुओं के लिए त्याज्य नहीं है। जिस रेलगाड़ी को भंगी धोता है, भिश्ती पानी देता है और जिसमें चूढ़े चमार तक यात्रा करते हैं, उसमें चला हुवा भोजन ही नहीं, किन्तु उस की बेंचों में बैठकर आनन्द से हिन्दू भोजन करते हैं।

अब अंगरेज़ी दवाओं को लीजिये। जो दवायें विलायत में न मालूम किन २ चीज़ों से और किस तरीके पर बनाई जाती हैं और जिनकी तयारी में प्रायः स्पिरिट ( मद्य ) का उपयोग होता है, सब लोग विना झिझक के उनका उपयोग करते हैं। कोई २ तो विनारोग के सिर्फ़ ज़ायके या हाज़मे के लिये अंगरेज़ी दवाओं का सेवन करते हैं।

## पहनावा।

पहनावे की ओर देखते हैं तो सिवाय धोती, पगड़ी और दुपट्टे के [illegible] कुछ भी हिन्दुओं का अपना लिवास नहीं है, सो ये भी कहीं २ दक्षिण और पूर्व में देखने में आते हैं। अंगरखा, चपकन, जामा पायजामा, कुरता, सदरी, मिरज़ई, सलूका, चोग़ा, साफ़ा और कमरबंद ये सब मुसलमानी लिवास हमने स्वीकार किये हैं। अब कोट, पतलून, क़मीज़, जाकट, नेकटाई कालर और हैट आदि अंगरेज़ी लिबास पर आसक्त होकर हम इनको भी छोड़ते चले जारहे हैं। देसी जूते की जगह बूट और खड़ाऊं की जगह स्लीपर का रिवाज बढ़ता जारहा है। स्त्रियों की पोशाक में भी बड़ा परिवर्तन होरहा है, चोली और लहंगे का रिवाज अब शहरों से तो बिलकुल उठता जाता है, चोली की जगह जाकेट और कमीज़ ने और

लहंगे की जगह सांये ने घेरली है। देसी चूड़ी, देसी फ़ीता और देसी बेल अब स्त्रियों के मन नहीं भाती, यहांतक कि देसी आभूषण भी अब स्त्रियों को अखरने लगे हैं। अपने बच्चों को तो सिरसे पैर तक विदेशी लिबास में देख कर माता, पिता फूले नहीं समाते।

## सजावट।

सजावट और मनोविनोद की वस्तुओं पर अब दृष्टि डालते हैं तो सिवाय पृथिवी माता के सब सामान हमको विदेशी ही नज़र आता है। किसी रईस को बैठक को जाकर देखिए। फ़र्श, मेज़, आलमारी, कुरसी. बाक्स, डेस्क, दर्पण, चित्र, लैम्प, चिमनी, पंखे, दावात, क़लम, स्याही, निब, चाक़ू, कागज़ और पर्दे आदि सब सामान इससिरे से उस सिरेतक विलायती ही नज़र आवेगा। मकान क्या है, मानो किसी सौदागर की सजी हुई दूकान है। अतिथि को अब आसन और पटले की जगह स्टूल या कुरसी दीजाती है। पाठशालाओं और सभाओं में अब फर्श की जगह कुरसियां और बेंचें लगाई जाती हैं। व्यास जी भी अब अपना उपदेश चौकी पर बैठकर नहीं करते, किन्तु मेज़ के सहारे खड़े होकर करते हैं। विलायती साबुन से जिसमें चरबी मिलीहुई होतीहै, पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी हाथमुँह धोती और स्नान करतीहैं। केसर और चन्दन के स्थान में अब इत्र और लवेंडर का प्रयोग कियाजाता है। चुरुट, बीड़ी और सीग्रेट का इतना प्रचार हुआ है कि छोटे २ बच्चे और मज़दूर तक मुँह में फलीता लिये फिरते हैं। चरबी की बत्तियां मन्दिरों तकमें जलाई जाती हैं। चमड़े के बटुवे स्त्रियां तक अपने पास रखती हैं। हड्डी के बने चाक़ूवस्ते से तरकारी और फल तराशे जाते हैं। सींग की

कंघियों से स्त्रियां अपने केश संवारती हैं। चीनी के बरतन और काच के गिलास अब घर घर खाने पीने के काम में आने लगे हैं।

## सवारियां।

पुरानी सवारियां रथ, मझोली, बहली, तांगे, छकड़े, पालकी, तामझाम आदि अब सिवाय देहात के और कहीं देखने में नहीं आतीं। शहरों में जिधर देखो फिटन, टमटम, घालगाड़ी मेलकार्ड, विक्टोरिया और लैंडो आदि विलायती ढंग की गाड़ियोंकी घड़घड़ाहट सुनाई पड़तीहै। इनके सिवाय अब बाईसिकल, ट्राइसिकल, मोटरकार, रेलवे और ट्रामवे आदि का प्रचार और विस्तार बहुत कुछ बढ़ता जाता है। उधर जलयानों में भी बड़ा परिवर्तन हुवा है। सैकड़ों प्रकार के यान जो भ फ के वेग से चलते हैं, बनते चले जाते हैं, जिनसे यात्रा का बहुत कुछ सुभीता होगया है।

## क्रीड़ा और व्यायाम।

पुराने अखाड़े और कुश्ती का चर्चा अब सिवाय पेशेवरों के और कहीं सुनने में नहीं आता। डंडपेलना, बैठक करना, मुद्गर हिलाना और पटेबाजी अब असभ्यता के चिन्ह समझे जाते हैं। खेलकूद में जहां देखो क्रीकेट, फुटबाल, और हाकी की धूम है। व्यायाम में डम्बल और जमनास्टिक की चर्चा है। कुश्ती की जगह क़वायद और व्यायामशाला की जगह क्रीकेट फील्ड या हाकी के मैदान नज़र आते हैं।

## गानविद्या।

गानविद्या भी अब अपना पहला स्वरूप छोड़कर नयारूप धारण करती जाती है। सारंगी, पखावज और सितार की

अब गाने में इतनी आवश्यकता नहीं समझी जाती, जितनी हारमोनियम, पियानो और फ्लूट की। पहले ध्रुपद और तराने का स्थान ग़ज़ल और कव्वाली ने लिया था, अब थियेट्रिकल चुलबुली रागनियों के सामने इनको भी कोई नहीं पूछता। अंगरेज़ी बैंडने देसी बाजों की भी रेड़ लगादी है।

## वास्तुविद्या।

नगरों में अब जो नये मकानात बनते हैं, पुराने ढंगपर अब उन्हें कोई नहीं बनवाता। अब तंग दालान और बन्द कोठों की जगह हवादार कमरे और खुले बरांडे बनाये जाते हैं। छतें ऊँची, दरवाज़े लम्बे, हवा और रौशनी के लिए खिड़कियाँ और रौशनदान रक्खे जाते हैं। पुराने ढंग की इमारतें चाहे मज़बूत बनाई जाती हों, पर उनमें आराम और स्वास्थ्य का ध्यान कम रक्खा जाता था।

## समुद्रयात्रा।

पहले हिन्दू समुद्रयात्रा को धर्मविरुद्ध समझते थे, अब धड़ाधड़ हिन्दू शिक्षा, व्यापार और सेवा के लिए जहाजों में बैठकर विदेशों को जाते हैं। मारवाड़ियों की दुकानें चीन, अदन, सिंगापुर, ब्रह्मा और हांगकांग में खुली हुई हैं। अभी कुछ दिन हुवे महाराज जयपुर ब्राह्मणों को साथ लेकर विलायत की यात्रा कर आये थे और सनातनधर्म के भूषण लोकमान्य तिलक भी मृत्यु से कुछ पूर्व लंदन की यात्रा करआयेथे।

## डाक्टरी।

अब से पचास वर्ष पहले डाक्टरी स्कूलों में उच्चजाति के हिन्दू अपने लड़कों को भरती नहीं कराते थे। गवर्नमेंट के पुरस्कार और छात्रवृत्तियों का भी उनपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता

था, अब वह सारी रोक जाती रही और यह व्यवसाय हिन्दुओं में उच्चकोटि का समझाजाता है।

## स्त्रीशिक्षा।

पहले स्त्रियों को पढ़ाना लिखाना अच्छा नहीं समझा-जाता था, लोग समझते थे कि स्त्रियां पढ़लिखकर गृहस्थ के काम की न रहेंगी। अब कट्टर से कट्टर हिन्दू भी स्त्रीशिक्षा का विरोध नहीं करते और यह समझने लगे हैं कि विना पढ़े लिखे स्त्री अच्छी गृहिणी नहीं बन सकती। पचास वर्ष पहले यहां सिवाय मिशनरियों के देशवासियों की ओर से कोई पुत्री पाठशाला न थी, अब नगरों को कौन कहे, कस्बों और ग्रामों में भी पुत्री पाठशालायें स्थापित होती जाती हैं। नगरों में तो पुत्रियां पुत्रों के समान विश्वविद्यालय की डिगरियां प्राप्त करती हैं।

कहांतक गिनावें, हमारा कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन न हुवा हो और क्यों न हो जबकि हमारे विचार ही परिवर्तन शील हैं, तब उनके परिणाम आचार स्थिर कैसे हो सकते हैं? इस दशा में किसी प्राचीन आचार को समाज का आदर्श बनाकर हम उसकी अग्रगति को तो रोक सकते हैं और उसको संसार से मिटा भी सकते हैं, पर अपनी सारी शक्ति लगाकर भी हम उसको पश्चात् गामी नहीं बना सकते। जैसे किसी युवा पुरुष को बन्धन में डालकर हम उसे निर्बल तो बना सकते हैं, यहांतक कि उसके जीवन को भी समाप्त कर सकते हैं, पर उसे पुनः शैशवावस्था में पहुंचाना सर्वथा हमारी शक्ति के बाहर है।

## आचार और बृटिश सरकार।

बहुत से आचार जो धर्म के नाम से उन्नीसवीं सदी के मध्यतक हमारे देश में प्रचलित थे और जिनके कारण समाज में मनुष्य जातिपर बड़े २ अन्याय और अत्याचार होते थे, उनको बृटिश सरकार ने शान्ति स्थापन होने के बाद क्रमशः कानून के ज़ोर से बन्द किया है। यदि वे बन्द न किये जाते तो आज हमारी यह सभ्यता, जिसका हम अभिमान करते हैं, न मालूम किस कोने में छिपी हुई होती और हमारी दुर्दशापर फूट २ कर आंसू बहाती होती। उनमें से कुछ आचारों का परिचय हम यहां पर पाठकों को देना चाहते हैं:—

### १—चरकपूजा।

यह प्रथा बंगाल में प्रचलित थी, काली के उपासक देवी को प्रसन्न करने के लिये इसका अनुष्ठान करते थे। एक सीधी बल्ली २५ या ३० फीट लम्बी भूमि में गाड़ी जाती थी, उसके बिचले सिरे पर एक तिरछा डंडा लगा दिया जाता था, जो चर्खी के समान घूमता था। डंडे के एक सिरे से एक रस्सी लटकाकर उसमें लोहे के दो हुक लगाये जाते थे। दूसरी तरफ़ एक और रस्सी बांधी जाती थी, जो धरातल तक लटकी रहती थी। दीक्षित उपासक बल्ली के सामने आकर पहले देवी को दण्डवत् करता था, तत्पश्चात् ये दोनों हुक उसके कंधे के पास पीठ की ओर मांस में घुसा दिये जाते थे। दूसरा मनुष्य रस्सी पकड़कर ज़ोर से घुमाता था। जो उपासक इस कष्ट को जितना अधिक सहन करता था, उतना ही वह भाग्यवान् समझा जाता था और जो इस कष्ट से प्राण त्याग देते थे, वे सायुज्य मुक्ति के भागी समझे जाते थे। सरकार ने सन् १८६३ ई० में क़ानून के द्वारा इस निष्ठुर प्रथा को बन्द किया।

## २-हरिबोल ।

यह प्रथा भी बङ्गाल में प्रचलित थी। जो रोगी असाध्य होजाता था या मरणासन्न होता था, उसको गङ्गा में लेजाकर स्नान कराते थे और पानी में गोता देकर उससे कहते थे कि "हरिबोल, बोल हरि।" यदि वह शीघ्र प्राण त्याग देता था तो भाग्यवान् समझा जाता था। यदि कठिन प्राण होने से किसी की जीवनलीला शीघ्र समाप्त न होती थी तो उसे पुनः घर वापिस नहीं लाया जाता था, वहीं बड़े दुःख से तड़प तड़प कर वह प्राणविसर्जन करता था। इस जघन्य प्रथा को भी सरकार ने सन् १८३१ ई० में क़ानून बनाकर बन्द किया।

## ३—सतीदाह ।

यह प्रथा सारे भारतवर्ष में प्रचलित थी। विधवा स्त्री को उसके पति की लाश के साथ चिता में जलाया जाता था। कष्ट की वेदना से वह कहीं चिता में से कूद न पड़े, इसलिये जबतक चिता में आग खूब प्रज्वलित न होजाती थी, उसको बांसो और बल्लियों से रोका जाता था। इस अमानुषिक प्रथा को भी सरकार ने सन् १८४१ ई० में क़ानून बनाकर बन्द किया।

## ४—पुत्रीवध ।

राजपूताना और उड़ीसा में इस दुष्टप्रथा का अधिक प्रचार था। कुलाभिमानी क्षत्रिय इस भय से कि कहीं हमें किसी का ससुरा और साला बनना पड़ेगा, पैदा होते ही पुत्रियों का गला घोंट देते थे। इस जघन्य प्रथा को सरकार ने सन् १८७० ई० में एक्ट ८ पुत्रीवधप्रतिरोध पास करके बन्द किया।

## ५—नरमेध।

उत्तरभारत और दक्षिण में यह प्रथा भी कहीं २ प्रचलित थी। किसी अनाथ या निर्धन मनुष्य को दीक्षित करके यज्ञ में उसकी बलि चढ़ाई जाती थी। ऋग्वेदीय शुनःशेफ सूक्त को इसका आधार माना जाता था। इस निष्ठुर प्रथा को बृटिश सरकार ने सन् १८४५ ई० में एक्ट २१ पास करके दूर किया।

## ६—गंगाप्रवाह।

माता पिता सन्तानोत्पत्ति के लिये अपने इष्टदेव से प्रार्थना पूर्वक यह प्रतिज्ञा करते थे कि यदि हमारे सन्तान उत्पन्न हुई तो पहले बच्चे को हम देवता की भेंट चढ़ायेंगे। इस निष्ठुर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये वे अपनी पहली सन्तान को ( चाहे पुत्र हो या पुत्री ) गंगासागर में छोड़ देते थे। इस दुष्ट प्रथा को हमारी सरकार ने सन् १८३५ ई० में क़ानून के द्वारा बन्द किया।

## ७—काशीकरवट।

बनारस में आदि विश्वेश्वर के मन्दिर के पास एक कूप है, जिसका दर्शन केवल सोमवार को होता था। लोगों का विश्वास था कि शिवजी इसमें वास करते हैं। इसी विश्वास के कारण लोग उसमें कूदकर सदा के लिये करवट लेते थे। इस प्रथा को भी सरकार ने क़ानून के द्वारा बन्द किया।

## ८—भृगुपतन।

गिरनार और सतपुड़ा पहाड़ की घाटियों में प्रायः नवयुवक पहाड़ की चोटी से नीचे गिरकर अपने प्राण देतथे। कारण इसका यह होता था कि उनकी मातायें महादेव जी से ( जो संसार के संहार करने वाले हैं ) यह अभ्यर्थना करती

थीं कि यदि हमारे सन्तान उत्पन्न होगी तो हम पहली सन्तान से भृगूत्पन्न की रीति पूरी करायेंगी। बड़े होने पर मातायें अपने पुत्रों से इस कथा का वर्णन करती थीं। नवयुवक मातृ ऋण का शोध करने के लिये धार्मिक विश्वास के कारण पहाड़ से कूदकर अपनी जान देते थे इस प्रथा का नाम भृगूत्पन्न था। इसको भी सरकारी क़ानून ने सदा के लिये बन्द किया।

## ६—धरना।

याचक लोग विष या शस्त्र हाथ में लेकर गृहस्थों के द्वार पर धरना धरते थे और कहते थे कि या तो उनकी कामना पूरी की जाय, अन्यथा वे यहीं प्राण त्यागेंगे। लोग डरके मारे उनकी अनुचित इच्छाओं को भी पूरी करदेते थे। इस प्रथा को सरकारने सन् १८२० ई० में क़ानून बनाकर बन्द किया

## १०—महाप्रस्थान।

जलमें डूबकर या अग्नि में जलकर मरने का नाम महाप्रस्थान था। धार्मिक विश्वास के कारण लोग इस प्रकार मरने से मुक्ति का होना मानते थे। राजा शूद्रक ने भी महाप्रस्थान किया था, जिसका वर्णन मृच्छकटिक नाटक में है। इस प्रथा को भी सरकारी कानून ने ही देश से मिटाया।

## ११—तुषानल।

कोई २ अपने को किसी अपराध के होने पर भुस या तुष की आग में जलाकर भस्म कर देते थे और इस प्रकार अपने पाप का प्रायश्चित्त करते थे। कुमारिल भट्ट ने बौद्धों से विद्या ग्रहण करने का प्रायश्चित्त इसी तुषानल में जलकर किया था। इसको भी सरकारी क़ानून ने ही नामशेष किया।

## १२—रथयात्रा

जब जगन्नाथ जी की रथ पर सवारी निकलती थी, तब उस रथ के नीचे पिसकर मरना मोक्षदायक समझा जाता था। हर तीसरे वर्ष यह यात्रा होती थी और बहुत से मनुष्य इस की भेंट चढ़ते थे। सरकारी क़ानून ने इस प्रथा को भी सदा के लिये नामशेष किया।

इसी प्रकार की और बहुतसी प्रथायें जो धर्म के नामसे पिछली शताब्दी के मध्यतक इस देश में प्रचलित थीं, बृटिश क़ानून के द्वारा रोकी गई हैं। यद्यपि बृटिश क़ानून और शिक्षा के द्वारा बहुत कुछ सुधार हमारे देश में हुवे और होंगे, जिनके लिये हमें इस सरकार का शुद्ध हृदय से कृतज्ञ होना चाहिये। तथापि एक विदेशी सरकार के लिये यह सर्वथा अशक्य है कि वह उन जहरीले कीड़ों को जो हमारे समाज की जड़ खोखली कर रहे हैं, उसके शरीर से निकाल कर बाहर फेंक सके। यह काम समाज के भद्र नेताओं का है, पर देश के दौर्भाग्य से हमारे समाज के नेता केवल राजनैतिक सुधार को ही देश की उन्नति का कारण समझते हैं और समाज सुधार की कोई आवश्यकता नहीं समझते। यदि कुछ समझते भी हैं तो लोक-मत उसके विरुद्ध पाकर उसकी उपेक्षा करते हैं।

हम यह नहीं कहते कि किसी जाति को उठाने के लिये राजनैतिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है, या राजकीय सहा-नुभूति और सहायता के बिना अशक्त और निर्बल प्रजा अपने मोक्ष का मार्ग सरल करसकती है। पर हां यह हम अवश्य कहेंगे कि जो जाति सामाजिक सुधार के नाम से चौंकती है और जिसमें धर्म तथा लोकाचार की आड़ लेकर लोग निर्बलों पर मनमाना अत्याचार करसकते हैं, उसको यदि राजनैतिक

अधिकार मिल भी जांय तो वह उनसे कुछ विशेष लाभ नहीं उठा सकती। क्या हमारे लिये यह लज्जा की बात नहीं है कि हम सरकारसे तो अपने स्वाभाविक और मनुष्योचित अधिकार मांगते हैं पर अपने भाई और बहनों के वे ही अधिकार खुद दबाये बैठे हैं। यदि हम धर्म या परम्परा का कृत्रिम सहारा लेकर ऐसा कर सकते हैं तो फिर सरकार यदि शान्तिरक्षा और सुव्यवस्था के नाम पर ऐसा करती है तो फिर हमारा क्या मुंह है कि इसके लिये हम सरकार को दोषी ठहरा सकें? हम जो नीति अपनों के साथ बर्तते हैं, वही यदि विदेशी सरकार हमारे साथ बर्तती है तो इसमें उसका कुछ भी दोष नहीं, इसके कारण हमीं लोग हैं।

कहा जाता है कि आज डेढ़सौ वर्ष के बृटिश शासन में भी हमारी दशा वैसी ही है, जैसी कि इस शासन के आरम्भ में थी। हम मानते हैं कि बृटिश शासन में जैसी उन्नति हमारी होनी चाहिये, नहीं हुई, पर प्रश्न यह है कि इसका दायित्व बृटिश शासन पर है या हमपर? पूर्वकाल में जबकि राजा लोग निरंकुश होते थे और प्रजा आंख मींचकर उनका अनुसरण करती थी, प्रजा की उन्नति और अवनति का दायित्व शासन पर रखना, चाहे न्यायसंगत हो। पर बीसवीं शताब्दी में जबकि सर्वत्र प्रजातन्त्र शासन का डंका बज रहा है, जिन देशों की प्रजा अपना शासन आप करती या कराती है, प्रजा को इस दायित्व से मुक्त करना अनुचित मालूम होता है। हमने अबतक अपनी जिस कट्टर प्रकृति का बृटिश अधिकारियों को परिचय दिया है, उसीके अनुसार उन्होंने हमारे लिए शासन यन्त्र निर्माण किया है। शासन की योग्यता प्रजापर इतना प्रभाव नहीं डाल सकती,

जितना कि प्रजा की अयोग्यता शासन पर अपना प्रभाव डालती है। शासन के उन्नत होने से प्रजा आगे नहीं बढ़-सकती, पर प्रजाके असमर्थ होने से शासन पीछे हटसकता है। अतएव बृटिश जैसे सुशासनमें भी यदि हम इस अधोगति को प्राप्त हैं तो इसका सारा दायित्व हमीं पर है। हम आप खुद अपना सुधार न करके दूसरों से अपना सुधार चाहते हैं, या यूं कहो कि अपने घर की अव्यवस्था न मिटाकर बाहर से सुव्यवस्था चाहते हैं, सो यह कैसे होसकता है?

अब प्रकृत यह है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारे मनुष्योचित अधिकार हमको मिलें तो जिन निर्बलों के मानुषिक अधिकारों को अबतक हम पैरों के नीचे कुचलते रहे हैं, उदारता पूर्वक पहले स्वयं उनको प्रदान करें। यदि हम चाहतेहैं कि हमारी स्वतन्त्रता को कोई अपहरण न करे तो हम दूसरों की स्वतन्त्रता पर अनुचित आक्रमण करना छोड़दें और यदि हम चाहते हैं कि हमारे साथ कोई ऐसा बर्ताव न करे, जिसे हम नहीं चाहते, तो हम भी दूसरों से उनकी इच्छा के विरुद्ध बर्ताव करना छोड़दें। बस यही हमारी जातीय मुक्तिका मार्ग है "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"।

# चौथा अध्याय।

## सामाजिक अत्याचार।

अब इस चौथे अध्यायमें हम सहृदय पाठकोंको उस अत्याचारका कुछ निदर्शन कराना चाहते हैं, जो हिन्दूसमाज में स्त्री जाति पर होरहा है और जिसके कारण हमारी सामाजिक और पारिवारिक दशा अत्यन्त ही शोचनीय और उद्वेजक होरही है। वैसे तो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक बात में स्त्रियों की जैसी उपेक्षा और अनादर किया जाता है, तथा धर्म और लोकाचार की आड़ में जो २ अन्याय और अत्याचार इन पर किये जाते हैं, उनको देख या सुन कर जहां एक हृदयवान् व्यक्ति इनके धैर्य और सहिष्णुता पर मुग्ध होजाता है, वहां पुरुषों की निष्ठुरता और हृदयहीनता पर आंसू बहाये बिना भी नहीं रहसकता। उन अत्याचारों में तीन मुख्य हैं, जिनके कारण हिन्दू समाज में स्त्रियों का जीवन व्यर्थ और शंकास्पद बनरहा है। वे तीन अत्याचार ये हैं (१) शिक्षा का अभाव (२) बालविवाह (३) वैधव्य। अब हम क्रमशः इनका कुछ वर्णन करेंगे।

### शिक्षा का अभाव।

सब से पहला और बड़ा अत्याचार जो स्त्री जाति पर किया जारहा है, वह इनको शिक्षा से (जो मनुष्य के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है) वञ्चित रखना है। मनुष्य के लिए मानसिक मृत्यु शारीरिक मृत्यु से कहीं बढ़कर है, जैसा कि हितोपदेश में कहा है:—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥

इसके अतिरिक्त स्त्रियों के साथ हम जो अमानुषिक बर्ताव कर रहे हैं मन और इन्द्रियों के होते हुवे भी हम इनको अचेतन समझ रहे हैं, उसका कारण भी इनमें शिक्षा का अभाव ही है। यदि ये शिक्षिता होतीं तो कदापि इनकी यह दशा न होती। ये तो बिचारी अविद्या की मारी अपने पद और अधिकार को जानती ही नहीं, पुरुष स्वार्थ के मद से उन्मत्त होकर इनके मनुष्योचित स्वत्वों का अपहरण किये बैठे हैं वे इनको केवल अपने सुख की सामग्री समझते हैं। उनका यह धार्मिक विश्वास है कि ईश्वर ने इनको हमारे लिए उत्पन्न किया है। जैसे अठारहवीं सदी में अमेरिका के गोरे निवासी वहां के काले हब्शियों की बाबत यह समझते थे कि इनकी उत्पत्ति का उद्देश सिवाय हमारे दासत्व के और कुछ हो ही नहीं सकता। इसलिए उन्होंने उनके लिए ऐसे क़ानून बनाये थे कि कोई दास न तो अपनी उपार्जित सम्पत्ति का, न अपनी स्त्री और सन्तति का मालिक होसकता है, किन्तु ये सब उसी के हैं, जिसका वह है।

शिक्षा उनके लिए क़ानून में वर्जित थी, यदि कोई दयालु स्वामी उनको घरमें कुछ शिक्षा देता भी था तो वह उनके सुधार के लिए नहीं, किन्तु अपने सुभीते के लिए। यूरोप और अमेरिका से आज उस दासत्व प्रथा को ( जो अपने से भिन्न जातिवालों के लिये थी ) उठे हुवे युग बीतगये और अब वहां वह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखीजाती है। पर भारत में उस जाति में जो अपने को संसार की सभ्यता का आदि गुरु कहती है, इस बीसवीं शताब्दी में कोई और नहीं, हमारे गृहस्थाश्रम की अधिष्ठात्री देवियां ही ( जिनको अपना अर्धाङ्ग कहते हुवे हमको लज्जा नहीं आती ) इस दासत्व की प्रथा में

जकड़ी हुई हैं। अन्तर केवल इतना है, कि वहां दास बेचेजाते थे, यहां जन्मभर के लिये बन्दी बनाकर रक्खे जाते हैं। न इनका पिता की सम्पत्ति में कुछ भाग है और न ये पति की सम्पत्ति में दूसरा विवाह न करने पर भी कोई स्वत्व रखती हैं। कहीं शास्त्र और कहीं लोकाचार की आड़ लेकर हम इनके साथ भेड़ और बकरी का सा सलूक कर रहेहैं। इससे अधिक और अत्याचार क्या होगा कि हमने इनको शिक्षा से ही वञ्चित करके मनुष्य से पशु बना दिया।

अब हम संक्षेप से उस हानि और दुरवस्था का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं जो स्त्रीशिक्षा के न होनेसे भारतीय समाज की होरही है।

## सन्तान का अयोग्य होना।

प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्वानों का मत है कि सन्तान पर माता का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना और किसी का नहीं। माता जैसा चाहे वैसा संतान को बनासकती है। यही कारण है कि मनुस्मृति में हज़ार पिताओं के बराबर एक माता को गौरव दियागया है :—

> उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
> सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

इतिहास भी हमको यही बतला रहा है कि संसार में जितने प्रतिभाशाली असाधारण पुरुष हुवे हैं, उनके बनाने में इस जगद्धात्री शक्ति का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। कपिल, अलर्क, भीष्म, अर्जुन, अभिमन्यु, कालिदास, शिवाजी, शेक्सपियर और नेपोलियन जैसे विद्वान् और वीर जो आज संसार को अपनी विद्वत्ता और वीरता से मुग्ध कररहे हैं, इन्हीं देवियों की शिक्षा और दीक्षा से वैसे बने थे।

आज क्या कारण है कि हमारे शतशः उपाय करने पर भी हमारी सन्तान जैसी हम चाहते हैं, नहीं बनती। जब सांचा ही बिगड़ा हुवा है तो उससे अच्छे सिक्के कैसे ढल सकते हैं? हम अपनी सन्तान को योग्य बनाने के लिए क्या कुछ नहीं करते? यहां तक कि बहुत से हमारे निर्धन भाई अपना पेट काटकर भी अपने बच्चों को स्कूलों में भेजते हैं, जिनको परमेश्वर ने कुछ सामर्थ्य दिया है, वे योग्य शिक्षकों को सन्तान की शिक्षा के लिए नियत करते हैं। इतने उपाय करने पर भी सैंकड़ों में क्या हज़ारों में कोई बिरलाही जिसके पूर्व संस्कार अच्छे हैं, योग्य बनता है। इसका कारण यही है कि हम जड़ को न सींचकर पानी की फुँधार से पत्तों को हरा रखना चाहते हैं, सो यह कैसे होसकता है?

प्रत्यक्ष देखलो, जिन देशों में स्त्रीशिक्षा का प्रचार है, उनकी जनसंख्या अल्प होते हुवे भी, उनमें योग्य पुरुषों की बहुलता है। भारत में ३२ करोड़ जनसंख्या के होते हुवे भी योग्य पुरुषों का ऐसा दुर्भिक्ष क्या यह सूचित नहीं करता कि यहाँ अवश्य शिक्षा की कल बिगड़ी हुई है और वह बिगड़ी हुई कल यही है कि जिसकी कुक्षि से हम जन्म लेते हैं, जो ९ महीने हमको गर्भ में रखकर हमारे अङ्ग, प्रत्यङ्ग और उनकी आकृति ही नहीं बनाती, किन्तु इस मांसास्थिपिण्ड में अपने आचार विचार के संस्कार डालकर हमारे चरित्र को भी निर्माण करती है, उसको मूर्ख रखकर हम योग्य बनना चाहते हैं, क्या इससे अधिक और कोई मूर्खता हमारी होसकती है? अतएव जबतक शिक्षा के द्वारा हम इन गृहदेवियों का संस्कार न करेंगे, अपना सर्वस्व लगा देने पर भी हम अपनी सन्तान को योग्य नहीं बना सकते।

## गृहस्थ की दुर्दशा।

सभी जानते हैं कि गृहस्थ के प्रबन्ध का सारा भार स्त्रियों पर होता है, पुरुष तो दिन भर आजीविका के चक्र में घूमते हैं, रात को थक कर सो रहते हैं, उनको इतना अवकाश कहां कि वे किसी बात के प्रबन्ध को सोच सकें या उसके उपायों को काम में लावें। यद्यपि आजकल भी उन सब कामों को स्त्रियाँ ही संपादन करती हैं, तथापि अविद्या के कारण उनके सब काम बेढंगे और उलटे होते हैं। न वे घर का हिसाब किताब ही रखसकती हैं और न किसी खर्च में किफ़ायत ही निकाल सकती हैं। सन्तानों के पढ़ाने लिखाने और उनको स्वास्थ्यरक्षा में धन का उपयोग करना वे अपव्यय समझती हैं, पर व्याह शादियों में झूंठी नामवरी के लिए बड़े बूढ़ों की पसीने की कमाई का भी स्वाहा करदेना उनको नहीं अखरता अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की वृद्धि करना तो कठिन काम है, केवल लब्ध की रक्षा भी वे नहीं कर सकतीं। न कोई काम उनका देशकाल के अनुकूल होता है और न वे समय का सदुपयोग करना जानती हैं। भोजन के समय जो प्रियालाप का है, घर का सारा दुखड़ा लेकर बैठती हैं और सन्ध्या का समय जो ईश्वर के गुणानुवाद का है वृथालाप और दूसरोंके परिवाद में खोदेती हैं। मङ्गलचार के समय अश्लील गीत गाने लगती हैं, आनन्द और उत्सव के समय कलह और विवाद कर बैठती हैं, जिससे सारा उत्साह भङ्ग होकर चित्त उद्विग्न होजाता है और गृहस्थाश्रम कांटे की तरह खटकने लगता है। सच है गृहस्थ को स्वर्ग या नरक बनाना गृहिणी का ही काम है।

## विपरीत व्यवहार।

सास, श्वसुर, माता, पिता आदि वृद्धों की सेवा करना

और उनसे नम्रता रखना, पति में प्रेम का होना और उसका विश्वास एवं प्रियाचरण करना देवर तथा पुत्रादि पर अनुग्रह दृष्टि रखना, यदि कुचेष्टा करें तो ताड़ना करना, सम्बन्धियों से स्नेह और पड़ौसियों में मैत्रीभाव रखना, इसप्रकार सबसे यथायोग्य व्यवहार करने से ही स्त्रियां गृहस्थ का भूषण बन सकती हैं। परन्तु आजकल शिक्षा के अभाव में स्त्रियां जानती ही नहीं कि किसका हमसे क्या सम्बन्ध है और कौन हमारे प्रति और हम किसके प्रति क्या कर्तव्य और अधिकार रखती हैं? इसलिए प्रायः उनके व्यवहार विपरीत ही होते हैं।

बहुधा देखा जाता है कि स्त्रियां अपने वृद्ध सास श्वसुर की सेवा स्वयं तो कहां से करेंगी किन्तु पति को भी अपनी कुमन्त्रणा से उनके विरुद्ध बना देती हैं, जिससे बिचारे उस वृद्धावस्था में जब कि मनुष्य अशक्त होने से परसहायापेक्षी हो जाता है, निराश्रय होकर अनेक कष्ट उठाते हैं। वृद्धों और मान्यों की पूजा और भक्ति के स्थानमें स्वार्थी और मिथ्याचारी पंडे, पुजारी और बनावटी साधुओं की पूजा और भेंट चढ़ाती फिरती हैं। या किसी लाल भुजक्कड़ को गुरु बनाकर और उससे गले में कण्ठी बन्धवाकर या कान में मन्त्र फुंकवाकर उसकी सेवा और शुश्रूषा करना अपना धर्म समझती हैं। यदि इनमें विद्या होती तो "पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्" तथा "पतिसेवा गुरौ वासः" इत्यादि शास्त्रवचनों का अनादर क्यों करतीं? देवरादि जो पुत्रवत् शिक्षणीय होते हैं, उनसे उन्मत्त होकर हंसी ठट्ठा और क्रीड़ा आदि (जो साध्वी स्त्री के लिये वर्जित हैं) करती हैं। फिर वे भी उद्दण्ड और धृष्ट होकर जहां तक उनसे होसकता है, इनकी मट्टी पलीद करते

हैं । सम्बन्धियों से ईर्ष्या और पड़ौसियों से कलह करना तो इनके लिये एक साधारण बात है । निदान शिक्षा के न होने से इनके सारे काम उल्टे ही देखने में आते हैं ।

## दाम्पत्य प्रेम का अभाव ।

गृहस्थ का आनन्द तब ही है, जबकि पति पत्नी में सच्चा प्रेम हो, वे कुल धन्य और वे गृह स्वर्गधाम हैं, जहां पति पत्नी में प्रेम और एक दूसरे का विश्वास है । चाहे गृह धन. धान्य और परिजन से पूर्ण हो और उसमें किसी बात की कमी न हो, पर एक प्रेम के न होने से गृहस्थ फीका पड़जाता है । जहां प्रेम का निर्मल स्रोत बहता है, वहां चाहे और कुछ भी न हो, पर दुःखरूप कूड़ा कर्कट रहने नहीं पाता । देखो प्रेम ने ही सीता को जङ्गल में मङ्गल करदिया और अप्रेम ने ही केकैयी को राज्य से सुख न भोगने दिया । गृहस्थ में जो कुछ है, सब प्रेम का ही माहात्म्य है, जिसके वर्णन करने में बड़े २ ऋषि मुनि भी असमर्थ हैं ।

यह प्रेम जो गृहस्थ का जीवनाधार है, स्त्री पुरुषों में कब और क्योंकर होसकता है ? सृष्टिनियम बतला रहा है कि मनुष्य में साधर्म्य से प्रीति और वैधर्म्य से द्वेष का होना स्वाभाविक है । हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि विद्वानों को मूर्खों से और श्रीमानों को दरिद्रों से चाहे सहानुभूति होजाय, पर प्रेम जिस वस्तु का नाम है, वह समता में ही ठहर सकता है, विषमता में नहीं । भला प्रकाश और अन्धकार का भी कहीं मेल होसकता है ? पति तो ईश्वर की कृपा से ग्रेज्युयेट हैं, कई भाषा जानते हैं, उनकी अर्द्धाङ्गिनी को सौतक गिनती नहीं आती और वह अपनी मातृभाषातक को लिख पढ़ नहींसकती, वे विनय और सभ्यता में बढ़े हुवे हैं, ये हठ और उजड्डपन

में किसी से कमनहीं। यहां रातदिन दर्शन, विज्ञान, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों की चर्चा है, यहां रातदिन भूत-प्रेत मसान और ऊतों की कथा और अर्चा है। वहां विद्वान् और देशभक्तों का मान है, यहां स्वार्थी और दम्भी लोगों की पूजा होरही है। जब इनकी दशा में रातदिन का सा अन्तर है, तब प्रेम कैसा? साधारण मेल भी नहीं रहसकता।

यही कारण है कि हमारे देश में एक नहीं, दो दो तीन २ स्त्रियों के होते हुये भी बहुधा नवयुवक चकलों की हवा खाते हैं क्योंकि घर की स्त्रियां अशिक्षिता होने से उनके चित्तको आकर्षित नहीं करसकतीं, पर पण्य स्त्रियां चतुर होनेसे उनके मन को अपनी मुट्ठी में कर लेती हैं और फिर मनमानी उनकी हजामत बनाती हैं। यदि हमारे देश की कुलस्त्रियां शिक्षिता होतीं तो आज यह व्यभिचार का बाज़ार गरम न होता तथा सैकड़ों कुल और उनकी प्रतिष्ठा इसकी भेंट न चढ़ती।

प्रियमित्रो! यदि आप गृहस्थ की पवित्रभूमि में प्रेम का मनोहर बीज बोना चाहते हैं, तो अपनी गृहदेवियों को शिक्षा के भूषणसे अलंकृत कीजिए, अन्यथा पुरुषोंको भी उनके समान बनाइये, भला कहीं प्रकाश और अन्धकार का भी मेल हुवाहै? इत्यादि और भी अनेक हानियां हैं, जिनको विस्तरभय से हम नहीं लिख सकते।

## बालविवाह।

दूसरा अत्याचार जो स्त्रियों पर होरहा है, बालविवाह है, यद्यपि इस अत्याचार से पुरुष भी बचे हुए नहीं हैं, तथापि ख़र्बूज़ा छुरी पर गिरे या छुरी ख़र्बूजे पर गिरे, दोनों दशाओं में विनाश ख़र्बूजे का ही है। अतएव बालविवाह का परिणाम

भी इसी अबला जाति के लिये भयंकर और दुःखदायी होरहा है। बालविवाह के दोष दिखलाने के पूर्व हम पाठकों को विवाह का कुछ परिचय देना चाहते हैं कि यह क्या वस्तु है और इसका उद्देश या प्रयोजन क्या है?

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह' धातु से, जिसका अर्थ प्राप्ति है, विवाह शब्द बनता है। जिसके द्वारा विशेष रूप से स्त्री पुरुष एक दूसरे को प्राप्त होते हैं, उसका नाम विवाह है और हिन्दू समाज में यह एक पवित्र संस्कार माना गया है, जिसमें स्त्री पुरुष आजीवन एक दूसरे के हाथ बिक जाते हैं। वे यज्ञ करते हुवे एक दूसरे का हाथ पकड़कर उपस्थित जनों के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करते हैं कि "आज से हम दोनों अपनी स्वतन्त्रता एक दूसरे के हाथ बेचते हैं, कभी एक दूसरे का अविश्वास एवं अप्रियाचरण न करेंगे।" इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता और सहयोगितासे गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए उत्तम सन्तानरूप फल को उत्पन्न करना विवाह का सर्वसम्मत उद्देश है।

पाठक! अब आप समझ गये होंगे कि यह कितने बड़े दायित्व का काम है, जिसमें दो प्राणी जीवन भरके लिये एक दूसरे के हाथ बिक जाते हैं। जिन जातियों में दोनों में से एक के न रहने पर या जीवन में भी कई कारणोंसे यह सम्बन्ध टूट सकता है, उनमें कैसी दूरदर्शिता और वर वधू की परीक्षा के बाद यह काम किया जाता है। पर जिस अभागिनी जाति में जीवनावस्था में तो क्या मरणानन्तर भी यह सम्बन्ध नहीं टूटता, लड़कों का खेल समझा जा रहा है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जिन कामों का सुधार हम अल्प व्यय और श्रम से करसकते हैं, उनमें तो हम अपनी दूरदर्शिनी बुद्धि का बह

परिचय दिखाते हैं कि अफलातून और अरस्तू भी आकर हम से हिकमत सीख जावें। पर जिस बिगाड़ को हम अपने प्राण देकर भी नहीं सुधार सकते, उसके लिये साधारण बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता भी हम नहीं समझते। एक पैसे की हाँडी को मोल लेते समय आंखे फाड़फाड़ कर हम देखते हैं और ठोक बजाकर परखते हैं, पर अपनी इनपुत्रियों और बहनों को (जो हमारे लिए अपने प्राण तक देसकती हैं) आंखें बन्द करके एक अजनबी पुरुष को देदेते हैं।

अब हम संक्षेप से उन अनर्थों का कुछ वर्णन करेंगे जो बालविवाह से उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण हिन्दूसमाज दिन पर दिन क्षीण और पतनोन्मुख होरहा है।

## विवाह के उद्देश का पूरा न होना।

जो काम जिस प्रयोजन के लिये किया जाता है, यदि उस काम से वह प्रयोजन सिद्ध न हो तो उसका होना न होने के बराबर है। पढ़े लिखे ही नहीं, किन्तु अशिक्षित लोग भी इस बात को जानते हैं कि विवाह के दो प्रयोजन हैं। एक स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम का होना दूसरा उत्तम सन्तान का उत्पन्न करना, सो इन दोनों बातों का सम्बन्ध युवावस्था से है, बाल्यावस्था दाम्पत्य प्रेम और सन्तानोत्पत्ति इन दोनों के अयोग्य है। यही कारण है कि संसार के किसी भी सभ्य देश में बालविवाह की रीति प्रचलित नहीं है। जो व्यक्ति जिस काम के योग्य नहीं है, उसपर उसका भार लादना न केवल उसको हानि पहुंचाना है, किन्तु उस काम की भी रेड़ लगाना है। अतएव जो काम जिस अवस्था से सम्बन्ध रखता है, उसीमें उसका होना श्रेयस्कर है।

सब जानते है कि बालकों का स्वभाव चपल होता हैं, उनमें विद्या, बुद्धि और अनुभव के न होने से उनके आचार, विचार और सङ्कल्पादि सब अस्थिर होते हैं इसी लिये युवावस्था में उनको बिलकुल कायापलट जाती है। फिर भला उस अबोध अवस्था में किया हुवा काम ( सोभी अपनी इच्छा या आवश्यकता से नहीं, किन्तु माता पिता की इच्छा से, युवावस्था में जबकि बुद्धि और अनुभव से काम लिया जाता है, क्योंकर रोचक होसकता है? इसलिये उस अनूकूलता पर भी काम करना दूरदर्शिता से दूर है। पर हमारे दूरदर्शी भाई तो इसकी भी कुछ परवा नहीं करते, बालविवाह में भी रूप, वय, गुण और शील की परीक्षा करना अनुचित समझते हैं। उनकी दृष्टि में वर वधू का ग्रहसाम्य होजाना दैवी अनूकूलता है, फिर उसके सामने शारीरिक या गौणिक आनूकूल्य की आवश्यकता ही क्या है? और यह ग्रहसाम्य कैसा विचित्र है कि कहीं ६० वर्ष के बूढ़े खूसट और १० वर्ष की सुकुमारी कन्या का होजाता है और कही २० वर्ष के युवा और १६ वर्ष की युवती का नहीं होने पाता। पर लाख ग्रह-साम्य होजाओ गौणिक तथा दैहिक अनूकूलता के न होनेसे स्त्री पुरुषों में रात दिन देवासुर संग्राम मचारहता है और फिर जो जो अनर्थ और दुराचार होते हैं, उनके लिखने में लेखनी सर्वथा असमर्थ है।

इस दशा में भी पुरुषों को तो स्वतन्त्रता है, यदि स्त्री उनके अनूकूल नहीं है, तो वे उसके होते हुवे दूसरा विवाह भी कर-सकते हैं, परस्त्रीगमन से भी उनका धर्म नहीं बिगड़ता और वेश्यायें तो उन्हीं के प्रताप से सदा सुहागिन बनी हुई हैं। परन्तु इस अनमेल की दशामें स्त्रियों की जैसी दुर्दशा होती है

उसको स्मरण करके रोमाञ्च होता है। पति चाहे कैसा ही कुरूप, अन्धा, कोढ़ी. व्यसनी और दुराचारी क्यों नहो और जो सलूक व्याघ्र बकरी के साथ करता है, वही अपनी स्त्री के साथ क्यों न करता हो, पर उसके लिए वह साक्षात् ईश्वर के समान है। ये उसके सिवाय अन्य पुरुषों को देखने से भी पापिनी होती हैं।

हमें भय होता है कि कोई महाशय हमको पतिव्रत धर्मका विरोधी कहकर अपराधी न ठहराने लगें। वास्तव में ऐसे लोगों से जो मरे हुवों को मारने में शूर, वञ्चित को ठगने में प्रवीण और शरणापन्न को मरणासन्न करने वाले हैं, यह शंका असमंजस नहीं है। अस्तु, ऐसे लोग चाहे कुछ समझें परन्तु हम अपने आशय को प्रस्फुट किये देते हैं। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जो लोग अपनी स्त्रियों को गृहलक्ष्मी समझकर उनका शास्त्रोक्त यथोचित मान और सत्कार करते हैं और स्त्रियों के लिये जैसा पतिव्रत धर्म को आवश्यक समझते हैं, वैसा हीं किन्तु उससे भी अधिक अपने लिये स्त्रीव्रत धर्म को, उनकी स्त्रियाँ उनको देववत् न मानें और उनकी पूजा तथा सेवा न करें। परन्तु जो निर्दय इन अबलाओं के साथ वनचरों का बर्त्ताव करते हैं, वे उस मान और पूजा के अधिकारी कदापि नहीं होसकते।

## गृहस्थाश्रम की दुर्दशा।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में बड़ा है, इसके भारको उठाना साधारण मनुष्यों का काम नहीं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य धारण करके शारीरिक और आत्मिक वल संपादन नहीं किया, वे कदापि गृहस्थाश्रम के भारको धारण नहीं करसकते। मन्वादि धर्मशास्त्रों में इस आश्रम की बहुत कुछ महिमा वर्णन कीगई

है और इस बातपर अधिक बल दियागया है कि जिनका आत्मा और शरीर निर्बल हैं वे कदापि इस आश्रम में प्रवेश करने का साहस न करें।

आज हम अपनी आंखों से कैसा करुणाजनक दृश्य देख रहे हैं कि यह आर्य सन्तान जो कभी कमसे कम २५ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करके पूर्ण शारीरिक और आत्मिक बल प्राप्त करने के बाद इस आश्रम मे प्रवेश करती थी, आज उस अवस्था में जबकि उसके दूधके दांत भी नहीं टूटते, धड़ाधड़ इस गृहस्थ की गाड़ी में जिसमें चारों आश्रमों का बोझ लदा हुवा है, जोती जाती है। क्या सचमुच आठ २ या दस २ वर्ष के छोकरों में इतनी शक्ति है कि वे इस गाड़ी को चलासकें? चलाना तो दूर रहा, वे इसके बोझ को सह भी नहीं सकते। भला सहें कैसे? जिस बोझ के उठाने में बड़े २ विद्वान् और बलवानभी श्रान्त हो जाते हैं, उसको वे अबोध बालक, जिनमें नतो विद्या है न शारीरिक बल क्योंकर उठा सकते हैं? जब यह भार असह्य हो जाता है, तब उस अबला को निराश्रय छोड़कर घरसे निकल भागते हैं, या कहीं सिर मुंडाकर साधु बन जाते हैं। यदि घरमें भी रहे तो दिनरात उपद्रव करते हैं, आभूषण, वस्त्र, पात्र जो कुछ हाथ लगा, चोरों की भांति ले भागते हैं। और जब कुछ न रहा, तब घरवाली को तंग करते हैं। परन्तु स्त्री के पास कुबेर का कोष तो है ही नहीं जो इनकी बेकारी और अनागम की अवस्था में भी पर्याप्त हो। स्त्री भी रातदिन के झगड़ोंसे तंग आकर यदि माता पिता का कुछ सहारा मिला, तो उनकी शरण लेती है, पर जिसका घरमें ठिकाना नहीं, उसे बाहर कौन पूछता है? वहां यदि अनादर और अवज्ञा के साथ टुकड़ा मिल ही गया तो क्या हुआ और यदि यह भी न हुवा तो

फिर "बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्" इस कहावत के अनुसार निन्द्य और अकर्तव्य कर्मों का आचरण करने लगती हैं, जिस से समाज में इन की चर्चा और तिरस्कार होने लगता है, उससे तंग आकर ये या तो ईसाई या मुसलमान होजाती हैं, जो इनको सदा आश्रय देने के लिए तयार हैं। या यदि धूर्तों के जाल में फंसगईं तो फिर बाजारों में बैठकर पातिव्रत्य धर्म की धूल उड़ाती हैं। इस प्रकार सैकड़ों कुलों की प्रतिष्ठा और मर्यादा इस बालविवाह की भेंट चढ़ती है।

## बालविधवाओं की वृद्धि।

सन् १९२१ ई० की मनुष्यगणना की रिपोर्ट बतलाती है कि इस देश में ६० लाख से ऊपर विधवायें ऐसी हैं, जिनकी अवस्था २० वर्ष से कम है। अब प्रश्न यह है कि ये कहां से आईं और किसने बनाईं? हमारे भाग्यवादी भाई शायद इसका दोष कर्म या भाग्य को दें, पर वास्तव में कर्म या भाग्य का इसमें कुछ भी दोष नहीं है, यह सब हमारा अपराध है, हम जान बूझकर अपने हाथ से अपने कर्म और भाग्य की रड़ लगाते हैं। हम सृष्टिनियम के विरुद्ध, ऋषियों के आदेश के विरुद्ध और सभ्य जगत् की परिपाटी के विरुद्ध बालक और बालिकाओं का या बूढ़ों और रोगियों का कुमारी कन्याओं से विवाह रचाते हैं यह सब उसी का फल है। हम इस बात को जानते हुवे भी कि बच्चे और बूढ़ों पर मृत्यु का अधिकतर आक्रमण होता है, उनका विवाह करते हैं, फिर यदि उसका यह अशुभ परिणाम होता है तो कर्म या भाग्य को दोष देने लगते हैं। क्या यह वही बात नहीं कि "छलनी में दुहैं और भाग्य को कोसें।"

बालविवाह और वृद्धविवाह यही दो मशीनें हैं, जो इस अभागे देश में बालविधवाओं की संख्या बढ़ा रही हैं, विधवा विवाह के अप्रचार ने इनकी भयंकरता को और भी बढ़ा दिया है। जो जातियां विधवाविवाह को बुरा नहीं समझतीं, वे तो अपनी सन्तानों का युवावस्था में विवाह करें और जो जाति विधवाविवाह को हव्वा समझती है, उसमें धड़ाधड़ बाल-विवाह और वृद्धविवाह हों, इसीको कहते हैं 'कोढ़ में खाज" होना तो यह चाहिए था कि जो जाति विधवाविवाह को अच्छा नहीं समझती, उसमें बालविवाह या वृद्धविवाह का कहीं नाम भी सुनने में न आता। किसी ने सच कहा है— "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।" यदि ये बालविवाह और वृद्धविवाह की दुष्प्रथायें हमारे देश में प्रचलित न होतीं तो आज ये ६० लाख बालविधवायें संसार को क्यों हमारी हृदय हीनता का परिचय देतीं।

## शिक्षा और स्वास्थ्य की हानि।

वह जाति जिसमें आत्मिक और शारीरिक बल नहीं है, बहुत दिन तक संसार में नहीं ठहर सकती। जातीय जीवन के लिए संसार में यही दो संजीवनी शक्ति हैं, जिनसे किसी जाति के अस्तित्व का पता लगता है। इन्हीं की साम्यावस्था को उन्नति और विषमावस्था को अवनति कहते हैं। सभ्य शिरोमणि आर्यों ने इन्हीं दोनों शक्तियों को उपार्जन करने के लिए प्राकृतिक नियमों के आधार पर ब्रह्मचर्य की नींव रक्खी थी, जिसका उद्देश शिक्षा द्वारा आत्मिक उन्नति और वीर्यरक्षा द्वारा शारीरिक उन्नति करने का था। शोक कि आज इस ऋषि-भूमि में ब्रह्मचर्य का स्थानापन्न बालविवाह बना हुवा है, जिसने इन दोनों शक्तियों की जड़ काटकर फेंक दी और उस जातिको

जिससे संसार की समस्त सभ्यजातियों ने सभ्यता उधार ली थी, आज असभ्य और मूर्ख ही नहीं किन्तु महानिर्बल, दीन और परमुखापेक्षी भी बना दिया ।

आजकल जिस अवस्था में पुत्र और पुत्रियों के विवाह होते हैं, वह ठीक उनके विद्यारम्भ करने की अवस्था है। द्विरागमन तक पुत्रों को तो कुछ अवकाश मिलता भी है, पर इससे होता क्या है, अधूरी शिक्षा पाकर वे घर के रहते हैं न घाट के । अब रहीं पुत्रियां सो विवाह के पश्चात् उनका पुस्तक हाथ में लेकर पाठशाला में जाना ( चाहे वह पुत्री पाठशाला ही क्यों न हो ) अनुचित समझा जाता है । चाहे घाटों और मन्दिरों की फेरी, मठों और दरगाहों की यात्रा साधु और महन्तों के दर्शन करने में सारे नगर की परिक्रमा देती फिरें । पुस्तक पढ़ने के लिए घर के काम धन्धों से अवकाश नहीं मिलता, चाहे सीटने और वृथालाप में दिन ही नहीं रात भी व्यतीत होजाय । यदि किसी को पढ़ने लिखने की कुछ रुचि हुई भी तो वर्णबोध होने पर गोपीचन्द या गुलबकावली पढ़ने लगीं, बस फिर क्या था वे अपने को पढ़ी लिखी समझदार और दूसरी अपनी बहनों को मूर्ख और गंवार समझने लगती हैं । यद्यपि इसमें दोष शिक्षाप्रणाली का भी है, तथापि बालविवाह उनको उत्तम शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं देता । माता पिता के यहाँ खेल कूद में अपना समय बिताती हैं, सुसराल में जाकर पहले तो लज्जा और संकोच में डूबी रहती हैं; फिर एकबारगी विषयवासना में निमग्न होकर अपनी ही आरोग्यता नहीं खो बैठतीं, किन्तु पति और पुत्रादि के स्वास्थ्य को भी बड़ी हानि पहुंचाती हैं ।

## सन्तान का निर्बल एवं क्षीण होना ।

सब से बड़ी हानि जो इस बालविवाह से हमारी जातिकी होरही है, वह हमारे उत्तराधिकारियों का, जिनपर हमारी जातीयसत्ता अवलम्बित है, उत्तरोत्तर क्षीण और बलहीन होना है। सब जानते हैं कि कच्चे या सड़े बीज से जो फल उत्पन्न होता है, वह बहुत दिन तक नहीं ठहरता। इसीलिए बुद्धिमान् माली और किसान कच्चे या सड़े फल के बीजको नहीं बोते और न ऐसी भूमि में बोते हैं, जो उत्पन्न करने की योग्यता न रखती हो। परन्तु आजकल हमारे देश में यह नियम वृक्षादि के लिए ही काम में लाया जाता है, मनुष्यों के लिए इसकी आवश्यकता नहीं समझीजाती। एक मूर्ख किसान कच्चे या सड़े बीज को ऊसर भूमि में बोने की मूर्खता कभी नहीं करता, पर हम पढ़े लिखे लोग बच्चों के कच्चे और बूढ़ोंके सड़े बीज कोउस भूमिमें जो उत्पादक शक्ति नहीं रखती धड़ाधड़ बो रहे हैं। क्या इस दशामें हम उत्तम फल (संतान) की आशा करसकते हैं महाभारत उद्योग पर्व में कहा है।

> वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचनोति यः
> स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥
> यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
> फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥

अपक्व वीर्य से जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह यही नहीं कि आप अयोग्य और असमर्थ हो, किन्तु उससे जो आगे को सन्तान होती है वह और भी अधिक क्षीण एवं बलहीन होकर एक दिन उस जाति की सत्ता और चिन्ह ही संसार से मिटा देती है। भला जिस देशमें १४ या १५ वर्षके छोकरे और १२ या १३ वर्ष की छोकरियां सन्तानोत्पत्ति के

योग्य समझे जाते हैं, उसकी कुशल कबतक मनाई जासकती है? द्विरागमन को हुवे यदि एक वर्ष बीत जाय और कोई रोग उत्पन्न नहो तो घर भर में खलबली मच जाती है। ज्योतिषी, सामुद्रिक और स्याने इन सब की आवभगत होने लगती है, यदि इनके छूमन्तर से कोई कीड़ा उत्पन्न होगया, तब तो इनके पौ बारह हैं, मनमाना पुरस्कार पाते हैं और फिर रातदिन उस रोगपुञ्ज के लिए इनकी आवश्यकता बनी ही रहती है और यदि न हुवा तब भी इनकी पूछ बनी ही रहती है।

यही कारण है कि आजकल सौ में बीस को भी ठीक समय पर प्रसव नहीं होता, प्रायः सतमासिये और अठमासिये उत्पन्न होते हैं, जो अधिकांश तो पैदा होते ही कालकवल होजाते हैं और जो बच रहते हैं, वे ज्यों त्यों अपने दिन पूरे करते हैं। हमारी समझ में तो जो विवाह से पहले अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं, वे बड़े भाग्यवान् और धर्मात्मा हैं। क्योंकि विवाह के पश्चात् मरने से वे एक अबला का जीवन नष्ट करजाते हैं, जो आजीवन सन्तापाग्नि में जलती हुई दोनों कुलों को अपने शाप से भस्म करती है। आजकल जो भारतसन्तान अधिकतर अकाल मृत्यु की भेन्ट चढ़ रही है, उसका कारण भी यही बालविवाह और वृद्धविवाह है। इस देश के बच्चों की मृत्युसंख्यापर जब हम ध्यान देते हैं तो हृदय कांप उठता है। दुर्दैव से इस देश में जो आत्मायें मनुष्य जन्म का चोला धारण करती हैं, उनमें से आधी बचपन में ही अपनी मानवलीला समाप्त कर देती हैं और कोई २ तो अपने साथ अपनी जन्मदात्री को भी लेजाती हैं। जो आधे बच रहते हैं, वे ज्यों त्यों करके अपने दिन पूरे करते हैं, इनके चेहरे पीले पड़े हुवे

हैं, पेट फूला हुवा है, गाल पटके और हाथ पैर सूखे हुवे हैं। बचपन जो स्वाभाविक रीतिपर खिलने की अवस्था थी, उसी में मुरझाजाना इससे बढ़कर किसी जातिका दुर्दैव और क्या होसकता है? बालविवाह ही हमारे जातीय ह्रासके लिए कुछ कम न था, उसपर अनमेल विवाह और वृद्धविवाह तो जाति को नाशके समीप ले जारहे हैं।

## वैधव्य।

तीसरा अमानुषिक अत्याचार जो इस अबला जाति पर होरहा है, वैधव्य है। यह वह अत्याचार है, जो स्त्रियों को जलरहित मीन की तरह तड़पा रहा है और यह वह दुःख है कि जिसका उनके जीवन भर कभी अन्त नहीं होता। विधवा होते ही मानो उनकी आशालतापर बिजली गिर पड़ती है। जिस आशा के अवलम्बन से, चाहे वह झूंठी ही हो, मनुष्य बड़े से बड़े दुःख को सहन और बड़ी से बड़ी कठिनता का मुक़ाबला करता है, उस जीवनसंचारिणी, सर्वदुःखापहारिणी आशा से ही इनका हृदय शून्य होजाता है, फिर जीवन इनके लिए भार नहो तो क्या हो? मन और इन्द्रियों के होते हुवे ये उनके उपयोग से वञ्चित करदी जाती हैं।

संसार के विचित्र पदार्थ और सुन्दर दृश्य जो औरों के आमोद प्रमोद का कारण हैं, इनके लिए महा भयंकर और दुःखदायी होजाते हैं। अपना दुखड़ा रोने और दूसरों को सुनाने से हलका पड़ जाता है, पर ये अपनी स्वाभाविक लज्जा और संकोच के कारण न तो जी भरकर रोही सकती हैं और न किसी के सामने अपने दुःखको प्रकट ही करसकती हैं। मनकी बात मनही में रखकर रातदिन चिन्तानलमें जलना और कुढ़ २ कर अपने शरीर को घुलाना बस संसार में इसी-

लिए इन्होंने जन्म लियाथा। सारे रोगी मौत से बचने के लिए ओषधि करते हैं, पर संसार में एक इनका ही ऐसा विलक्षण रोग है, जिसकी सिवाय मौत के और कोई ओषधि नहीं। हा हन्त !! जिस देशमें एक करोड़ बालविधवायें ऐसा नैराश्य पूर्ण और अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रही हों, क्या उस देश के निवासी कभी सुख की नींद सो सकते हैं ?

अब प्रश्न यह होता है कि जब पशु पक्षी भी अपनी सन्तान का दुःख नहीं देख सकते, तब भारतवासी और उनमें भी विशेषकर हिन्दू जिनका दया धर्म संसार में प्रसिद्ध है, अपनी पुत्रियों के इस अथाह दुःखपर क्यों ध्यान नहीं देते ? ज़रा सा कांटा लग जाता है, उसको भी जबतक निकाल नहीं दिया जाता, चैन नहीं पड़ता, ये तो सांप की तरह हरदम इनकी छातीपर लोटती हैं, फिर भी इनके दुःखनिवारण का कुछ उपाय नहीं किया जाता ? इसके उत्तर में हमें कहना पड़ताहैः—

"जिसके पैर फटे न बिवाई। वह क्या जाने पीर पराई।"

यदि वह दुःख का पहाड़ जो इन अनाथ अबलाओं के सिरपर टूटरहा है, उसका शतांश भार भी हमारे भाइयों के ऊपर पड़ता तो इनको खरे खोटे का सारा भाव मालूम हो-जाता है, अब इनको मालूम क्या हो, जबकि विवाह इनके लिए एक खेल होरहा है। दो २ चार २ सन्तानों के होते हुवे यहां तक कि पूर्व पत्नी की विद्यमानता में भी ये एक कन्याकुमारी को जिसकी अवस्था इनकी पुत्री से भी कम है, अपनी पत्नी बना सकते हैं। फिर इनमें यह कैसी अद्भुत शक्ति है कि व्य-भिचार से भी इनका धर्म नहीं बिगड़ता। चाहे ये कंचनी को घर में रक्खें या पुंश्चली की पूंछ बन जायें या विधवाओं का सतीत्व नष्ट करके गर्भपात और भ्रूणहत्या तक कर डालें

और फिर भी बेलाग बने रहें। इस दशा में इनको क्या मालूम हो कि विधवाओं पर कैसी और क्या बीत रही है ?

## वैधव्य का परिणाम।

विधवाविवाह के विषय में जो निर्मूल आक्षेप किये जाते हैं, उनकी आलोचना हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप से उन अनर्थों और अपराधों का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जो विधवाविवाह के न होने से उत्पन्न होते हैं और जिनको वैधव्य का परिणाम कहना चाहिये।

## हमारी निर्दयता।

पहला अनर्थ यह है कि जो हिन्दू पशु पक्षियों पर भी दया करते हैं और उनके कष्ट को नहीं देख सकते, उनके सामने आजीवन उनकी पुत्रियाँ और भगनियाँ सन्तापाग्नि में जलें और वे खुद मरते दम तक संसार के आमोद प्रमोद से मुंह न मोड़ें, क्या इससे अधिक संसार में और कोई निष्ठुरता और स्वार्थपरायणता का नीच उदाहरण मिल सकता है ? जिन आर्यों का आत्मा शत्रु को भी दुरवस्थापन्न देखकर द्रवीभूत होजाता था, हा !! आज उनकी सन्तान कैसी निष्ठुर और पाषाणहृदय होगई है कि अपनी सन्तान के अथाह दुखः पर जिसपर अजनबी लोग भी आँसू बहाते हैं, ध्यान नहीं देती। यदि कहो कि उन के भाग्य या कर्म का लिखा हम नहीं मेट सकते तो हम पूछते हैं कि यह भाग्य अमिट संसार में इन्हीं के लिए है या तुम्हारे लिए भी ? हम तो तुम्हारा भाग्य को अमिट मानना तब समझते, जब तुम स्त्री के मरजाने पर दूसरा विवाह न करते। भाग्य तो तुमको स्त्री और सन्तान दोनों से वञ्चित रखना चाहता है, पर तुम अपने लिए उस

से मरते दम तक युद्ध करते हो। फिर हम कैसे मानलें कि तुम भाग्य को अमिट मानते हो?

एक तो निरपराधों पर अत्याचार और फिर उसका समर्थन करने के लिए यह बहाने बाज़ी !! क्या इसी का नाम आस्तिकता है? क्या जिस बात को हम अपने लिए नहीं चाहते, उसको अपनी बहनों और पुत्रियों के लिए चाहना यही हमारी धर्मभीरुता और ईश्वरपरायणता है? जबतक हम इन अनाथ अबलाओं के दुःखपर ध्यान नहीं देंगे और इनके मानुषिक और प्राकृतिक स्वत्वों को निर्दयता के साथ पैरों के नीचे कुचलते रहेंगे, तबतक हिन्दूसमाज के इस बड़े कलङ्क को कि उसकी दया और सहानुभूति केवल पशुपक्षियों तक ही परिमित है, मनुष्य उसकी सीमा से बाहर हैं, कभी नहीं मिटा सकते।

## व्यभिचार की वृद्धि।

दूसरा अनर्थ यह है कि बड़े २ घरानों की विधवायें, जब काम का वेग असह्य होजाता है, पहले तो गुप्तरीतिपर अपनी कामवासना को तृप्त करती हैं। जब उनपर सन्देह होने लगता है, या उनका दोष प्रकट होजाताहै, तब "मरता क्या न करता" इस किंवदन्ती के अनुसार या तो अपने प्रणयी के साथ भागजाती हैं, या ईसाई मुसलमानों का आश्रय लेती हैं, या किसी कुटनी के हत्थे चढ़ गईं तो बाज़ारों में बैठकर दोनों कुलों के पितरों को स्वर्ग में पहुंचाती हैं। अब वही हिन्दूसमाज जो अपने नवयुवकों को इनके साथ विवाह करने से रोकता था, अब उन को खुली आज्ञा देदेता है कि वे इन स्वर्ग की अप्सराओं के यहां जाकर अपने पितरों का श्राद्ध और तर्पण करें। आज जो भारत के प्रत्येक नगर में हाट के हाट पुंश्चली और वेश्याओं से भरे पड़े हैं और जहां तहां सैकड़ों गुप्त अड्डे बने

हुवे हैं, जिनमें हज़ारों कुटनी और कुटने इसी पाप कर्म का व्यवसाय करते हैं, यह सब इसी वैधव्य का ही परिणाम है।

प्रश्न—व्यभिचार का कारण वैधव्य नहीं, किन्तु दुःसङ्ग है, जिस के चक्र में पड़कर बहुतसी सधवायें भी कुलटा बनजाती हैं, अतएव दुःसङ्ग से स्त्रियों को बचाना चाहिये।

उत्तर—माना कि इस दारुण विपत्ति में भी कुछ विधवायें ऐसी निकलेंगी जो अपने प्राणपण से माता पिता के मान मर्यादा की रक्षा करती हैं। इससे क्या हम यह समझलें कि उनको सांसारिक सुख की कामना नहीं रहती, जब आजकल के साधु और सन्त भी इस कामना से मुक्त नहीं, तब क्या भोग विलासों की प्रदर्शिनी में रहती हुई ये शिक्षा और अनुभव शून्य अबलायें मानसिक वेगों का दमन कर सकती हैं? अतएव लोकापवाद या माता पिता की इच्छा उन्हें गुप्त रीति पर अपनी वासनाओं को तृप्त करने से नहीं रोक सकते और भला कैसे रोक सकें? क्या कोई प्राकृतिक वेगों के रोकने में समर्थ हुवा है? जब बड़े २ देवता ब्रह्मा, विष्णु, इत्यादि और बड़े २ ऋषि विश्वामित्र और पराशर आदि कृत, त्रेता और द्वापर युग में काम के वेग को न रोकसके, तब इस कलियुग में शिक्षा और अनुभव शून्य अबलाओंसे यह आशा करनाकितनी मूर्खता है? इस बात को योग्य इंजीनियर ही नहीं साधारण मनुष्य भी जानतेहैं कि यदि पानी के निकास का कोई मार्ग न बना कर बन्द बान्धा जायगा तो उसका क्या परिणाम होगा? इस प्रकार पानी के वेग को रोकने की मूर्खता हममें से कोई नहीं करता; पर काम के दुर्धर्ष वेग को रोकने की मूर्खता हमारा समाज कर रहा है। यदि यह रोक अपने लिये होती तो चाहे इसमें बुद्धिमत्ता न समझी जाती, पर वीरता अवश्य मानी

जाती। पर नहीं यह बान्ध हमने उस अबला जाति के लिए बान्धा है, जिसपर हमारे भाई विना किसी आपत्ति के भी यह अपवाद लगाया करते हैं।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥

अस्तु, जब हम अपने लिये उननियमोंकी कुछ परवा नहीं करते जिनका पालन विधवाओं से कराना चाहते हैं, तब हमारा यह विषमाचार ही उनकी आँखें खोलदेता है और उनको दुष्कर्म में साहस होने लगता है, फिर दबाने या भय दिखाने से भी उनका बचना कठिन होजाता है। इतने पर भी जो विधवायें सब कष्टों को सहती हुईं और प्राकृतिक वेगों को रोकती हुईं दुष्कर्मों से अपने को बचाती हैं, वे निःसन्देह देवता हैं और जगत् की वन्दनीया हैं। परन्तु हज़ारों में दस बीस ऐसी हुईं भी तो क्या वे उस व्यभिचार के प्रवाह को ( जो वैधव्य के स्रोत से निकलता है ) रोकने में समर्थ होसकती हैं? जब वैधव्य उनकी चिरोषित वासनाओं पर आघात करता है, तब क्यों न उसको उनकी दुष्प्रवृत्ति का कारण मानाजाय?

## गर्भपात और भ्रूणहत्या।

यह वह अनर्थ है, जिसको स्मरण करके शरीर में रोमाञ्च होता है, जिस देश में हजारों ईश्वर के पुत्र गर्भ में या उत्पन्न होते ही समाप्त करदिये जांय, वह बालघाती देश क्या कभी भद्र या स्वस्ति का मुंह देख सकता है? एक पापको छिपाने के लिए दूसरा महापाप करना, एक व्यक्ति या कुल की झूंठी नाक रखने के लिए सारे समाज की नाक कटाना इसी का नाम है। पर पाप कभी पाप को रोक सकता है? इससे बड़े२ ख़ान्दानों की रही सही प्रतिष्ठा भी ख़ाक में मिल जाती है।

रुपये के ज़ोर से चाहे वे इसका क़ानूनी प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने दें, पर जिस नाक को बचाने के लिए ये महापाप किये जाते हैं, वह तो जड़से कट जाती है और व्यभिचार जो अबतक छिप २ कर होताथा, अब खुल्लम खुल्ला होनेलगताहै।

हमारे देश के फ़ौजदारी अदालतोंके दफ़्तर ऐसी मिसलोंसे भरे पड़े हैं, जिनमें सैकड़ों उच्चकुल की विधवायें गर्भपात, भ्रूणहत्या और आत्मघात आदि अपराधों में अभियुक्त होकर न्यायालयों से दण्डित हुई हैं। हम यहांपर सिर्फ़ एक फ़ैसले की नक़ल जो बम्बई हाईकोर्ट में आनरेबिल जस्टिस वेस्ट ने २५ मई सन् १८८१ ई० को, मुसम्मात विजयलक्ष्मी विधवा उम्र २० वर्ष क़ौम ब्राह्मणी के अपीलपर ( जिसने अपने जारज पुत्र को गला घोंटकर मारडाला था ) सादिर फरमायाथा, उद्धृत करते हैं। जस्टिस महोदय अपने फ़ैसले में लिखते हैं:-

"वे लोग जिनकी जाति में व्यभिचार बहुत बुरा समझा जाता है और वे विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं देते, बड़ी भूल करते हैं। जातीय हित को लक्ष्य में रखकर समाज को निष्पक्ष भाव से सोचना चाहिये कि किसी युवा व्यक्ति को ( चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष ) विवाह से रोकना उसे व्यभिचार की प्रवृत्ति दिलानाहै। जिन जातियों में विधवाविवाह का प्रचार नहीं है, यदि कोई आपत्ति न हो तो समाज को उनपर दबाव डालना चाहिये और सामाजिक हित के लिए इस अनुचित रुकावट को जिससे धर्म और क़ानून के विरुद्ध अनर्थ और अपराध उत्पन्न होते हैं, दूर करना चाहिये।"

"यह अभियोग इस प्रकार के अन्य अभियोगों का अपवाद नहीं है, इसलिए न्यायालय की दृष्टि में यह आवश्यक नहीं है कि क़ानून का सबसे अन्तिम दण्ड अपराधी को दिया जाय।

क्योंकि न्यायालय की दृष्टि में भ्रूण हत्या का अपराध ऐसा असाधारण नहीं हुवा है कि प्रत्येक दशामें जहां स्त्री अपराधिनी हो, मृत्यु दण्ड आवश्यक समझाजाय। परन्तु इसके साथ ही यह अभियोग ऐसा भी नहीं है कि गवर्नमेन्ट से इस की सुफ़ारिश कीजाय। अतएव यह न्यायालय आज्ञा देता है कि अपराध जो मातहत अदालतने लगाया है बहाल रक्खा जाय, पर फांसी के बजाय आजीवन काले पानी की सज़ा अपराधी को दीजाय।"

पाठक! ऐसे २ सैकड़ों अभियोग आये दिन फ़ौजदारी अदालतों में होते रहते हैं, जिनमें विधवायें तो अपने कियेका फल पाती ही हैं, पर उनके संरक्षकों और सम्बन्धियों की जो दुर्गति और मिट्टी पलीद होती है, उसके लिखने में लेखिनी असमर्थ है। अब प्रश्न यह है कि गवर्नमेन्टके क़ानूनमें चाहे इन अपराधों के करने वाले और उनमें सहयोग देनेवाले ही दोषी हों, पर उस अन्तर्यामी न्यायकारी यमराजके क़ानूनमें क्या उससमाज पर इन अनर्थों और अपराधों का दायित्व न होगा, जो बलात् मनुष्यों के प्राकृतिक वेगों को रोककर उनको पापी और अपराधी बनने का अवसर देता है? आज जो हिन्दू जाति संसार में नहीं किन्तु अपने ही देश में और अपने ही भाइयों से तिरस्कृत और अपमानित होरही है और धड़ाधड़ दूसरी जातियों का शिकार बन रही है, क्या यह ईश्वर की ओर से इसी पापकर्म का समुचित दण्ड नहीं है?

## कुमारी कन्याओं पर अत्याचार

चौथा अनर्थ जो इस वैधव्य के कारण हिन्दू समाज में होरहा है, कुमारी कन्याओं पर अत्याचार है। विधवाविवाह के नहोने से चालिस २ और पचास २ वर्ष के बूढ़े पुरुष आठ

आठ या दस २ वर्ष की कुमारी कन्याओं के साथ जो देखने में उनकी पुत्री और पौत्री के समान लगती हैं, विवाह करते हैं, इसका परिणाम यह होता है। उधर तो जो विधवायें समाज में मौजूद थीं, वे ज्योंकी त्यों बनी रहीं, इधर यह दूसरी खेप और तय्यार करने का उपक्रम किया जाता है। इससे विधवाओं की संख्या बढ़ने के अतिरिक्त दूसरा अनर्थ जो होता है, वह कुमारी कन्याओं पर अत्याचार है। दुहेजिये ही नहीं, किन्तु तिहेजिये और चौहेजियों का घर बसाने के लिये भी इन निरपराध बालिकाओं की बलि चढ़ाई जाती है। यदि विधवाविवाह प्रचलित होता तो भारतीय कन्याओं की यह दुर्दशा क्यों होती? इसके अतिरिक्त कन्याविक्रय की जघन्य रीति भी विधवाविवाह न होनेके कारण ही इस देश में फैली है। निर्धन गृहस्थ, जिन की इस देशमें कमी नहीं है, धनके लोभसे अपनी कन्याओं को बूढ़े और रोगी धनवानों के हाथ बेच देते हैं। यदि विधवा-विवाह प्रचलित होता तो क्यों ऐसे २ अनर्थ और पाप होते?

## आजीविका का अभाव।

पांचवाँ अनर्थ जीविका का अभाव है. जो इच्छा न होते हुये भी विधवाओं को पापकर्म की ओर प्रेरित करना है, सब जानते हैं कि भूखा मनुष्य न तो भजन ही करसकता है और न उससे किसी मर्यादा का ही पालन होसकता है। क्या आठ आठ या दस २ वर्ष की बालविधवायें, जिनको न कोई शिक्षा दीगई है और न कोई हुनर सिखाया गया है, विना दूसरे की सहायता या आश्रय के किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह कर सकती हैं? यदि कहो कि माता पिता उनका भरण पोषण करेंगे, तो प्रश्न यह है कि जिनके माता पिता न हों या हों भी

तो इस काम के अयोग्य हों, बतलाइये वह क्या करें और किस प्रकार अपनी उदरज्वाला को शान्त करें ?

हा हन्त !! हिन्दू विधवा की कैसी शोचनीय दशा है ? इधर क्षुधा और दीनता उसे अपना भयानक रूप दिखा रही है, उधर संसार के प्रलोभन और उत्तेजन उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। एक ओर इतना अत्याचार सहते हुवे भी समाज में अपना अपमान और तिरस्कार उसे उस निर्दय समाज से बदला लेने के लिए उकसा रहा है। दूसरी ओर गुण्डे और पापी पुरुष स्वयं पतित होने के लिए नहीं, किन्तु उसे पतित करने के लिए अर्थात् लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट करने के लिए नये नये जाल बिछाये बैठे हैं। इन विषमावस्थाओं में यदि विधवायें अपने धर्म पर आरूढ़ रहें तो इसका आश्चर्य होना चाहिए, न कि उनके पतित होने का। अस्तु, और सब आपत्तियों का एक दृढ़चित्त मनुष्य जैसे तैसे मुकाबिला कर सकता है, पर वह पेट को किसी दशा में जवाब नहीं देसकता इस पेट की ज्वालाको शान्त करनेके लिए माताओंने अपने दूध पीते बच्चों को अपनी छाती से अलग करदिया है, पुत्रों ने अपने बूढ़े माता पिताओं को घरसे निकाल दिया है। अतएव भर्त्ता के अभाव में पेट की चिन्ता यदि विधवाओं को कुमार्ग गामिनी बना देवे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"

## ईश्वरीय नियम की अवज्ञा।

छठा अनर्थ यह है कि इससे ईश्वरीय नियम की अवज्ञा होती है। ईश्वर ने स्त्री और पुरुष दोनों को एक ही उद्देश के लिए बनाया है। ये दोनों मिलकर ही सृष्टि का उद्देश पूरा कर सकते हैं। यदि इनमें से एक भी दूसरे की उपेक्षा करे तो

आज ही इस सृष्टि का उच्छेद होजाय। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही इन दोनों का संयोग आवश्यक नहीं है, किन्तु उस गृहस्थाश्रम को भी जिसका महत्व हिन्दू शास्त्रों में सर्वोपरि माना गया है, जीवित रखने के लिए इनका परस्पर मिलकर रहना अनिवार्य है। मनु कहता है:—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टा सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥

जब श्रुति के संकेत से मनु यह लिखता है कि पत्नी के साथ ही पुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करसकता है, अन्यथा नहीं, तब विधवाओं को पत्नी बनने से रोकना गृहस्थ धर्म का उच्छेद करना नहीं तो और क्या है? ईश्वर ने उनको सन्तान उत्पन्न करने और गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए उत्पन्न किया था, पर हम उनको प्रसवशक्ति रखते हुवे बन्ध्या और पत्नी बनने की योग्यता रखते हुवे सदा के लिये विधवा बना देते हैं। इससे अधिक ईश्वरीय नियम की और क्या अवज्ञा होसकती है? यदि इन अर्ध कोटि बालविधवाओं के अनुरूप वरों के साथ नियमानुसार विवाह होजाते तो न मालूम आज इनसे कितने अर्जुन और अभिमन्यु उत्पन्न होकर इस पतनोन्मुख हिन्दू जाति के बल और प्रभाव को बढ़ाते और कितने गृहस्थ जो आज इनके विलाप और क्रन्दन से या दुराचार और पाप जीवन से नरक का दृश्य उपस्थित कररहे हैं, स्वर्ग और शान्ति के धाम बनकर हिन्दू जाति के सुख, प्रताप और गौरव की वृद्धि करते, इसकी संख्या कौन करसकता है? इत्यादि अनेक अनर्थों का उपशम जिनके कारण हिन्दू जाति दिनपर दिन क्षीण, हीन और दीन होरहीहै (जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्येक मनुष्यगणना में उसका भीषण ह्रास है) एक मात्र विधवाविवाह के प्रचार से होसकता है।

## अन्तिम निवेदन।

उपसंहार में अब हम अपने देशबान्धवों से सविनय निवेदन करते हैं, कि यह कोई धर्म सम्बन्धी विवाद नहीं है जिस पर हिन्दू, जैन, आर्य, ब्राह्म, बौद्ध और सिक्ख आदि सम्प्रदायों का मतभेद हो। यह उस दुखड़े का रोना है, जिसको स्मरण करके आस्तिक तो एक ओर नास्तिकों का भी हृदय विदीर्ण होता है। यही दारुण दुःख है जो सर्व सम्पत्तिके होते हुवे भी आज हम को आठ २ आंसू रुलारहा है, इसी कलङ्क ने आज हमको संसार की सभ्य और शिक्षित जातियों में कलङ्कित किया है और यही निष्ठुरता है, जो आज हमको मनुष्य होते हुवे भी पाषाणहृदय बनारही है।

प्रिय बांधवो! ईश्वर के लिए और अपने पवित्र धर्म के लिए अब आप इस धब्बे को अपने अञ्चल से धो डालिये। संसार में कोई धर्म ऐसा नहीं है, जिसकी महिमा दीनों पर दया करने और दुखियों का दुःख दूर करने से न बढ़ी हो। इन अनाथ बालविधवाओं को इस भयानक दशा से जिस में पड़ी हुई ये रातदिन बिना अग्नि के जल रही हैं, उद्धार करना हमारा और आपका ही काम है। यदि हमारे शत्रु भी इस अप्राकृतिक दशा में पतित होते तो आर्यसन्तान होते हुवे इससे उनका उद्धार करना हमारा कर्त्तव्य था, ये तो हमारी इच्छा और आज्ञा के आगे सिर झुकाने वाली ही नहीं, किन्तु उसका पालन करने में मर मिटने वाली हमारी पुत्रियां और भगिनियां हैं क्या इनके दुःखपर हम ध्यान न देंगे?

अबतक हमने प्रमाद से अपने इस कर्त्तव्य की उपेक्षा की, पर अब इस प्रकाश के युग में बहुत दिनतक हम इनको इनके

मानुषिक स्वत्वों से वञ्चित नहीं रखसकते। यदि हम इनके मनुष्योचित अधिकार इनको प्रदान नहीं करेंगे तो ये स्वयं उनको प्राप्त करने की चेष्टा करेंगी। क्या अच्छा हो कि हम इनकी मांग से पहले ही इनके अधिकार इनको प्रदान करदें। अधिकार तो दोनों दशाओं में ( चाहे हमदें और चाहे ये लें ) इनको मिलेंगे ही, पर अन्तर केवल इतना है कि पहली दशा में हम यशोभागी सेंत मेंत में बन जायेंगे और पिछला कलङ्क भी हमारा धुल जायगा। दूसरी दशा में अपने अधिकारों को प्राप्त करने का सारा श्रेय इन्हीं को मिलेगा और हमको इनके सम्मुख लज्जित भी होना पड़ेगा।

# परिशिष्ट ।

## अर्वाचीन विद्वानों की सम्मतियां ।

विधवाविवाह के विषय में प्राचीन ऋषियों और विद्वानों की सम्मति पहले और दूसरे अध्यायों में हम सप्रमाण उद्धृत करचुके हैं । अब इस परिशिष्ट प्रकरण में हम कुछ ऐसे अर्वाचीन विद्वानों का परिचय विज्ञ पाठकों को देना चाहते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत विषय में अपनी स्वतन्त्र और स्पष्ट सम्मति प्रदान करके अपने नैतिक बल का परिचय दिया है ।

### १—मित्रमिश्र ।

ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुवे हैं । इनका बनाया "वीरमित्रोदय" ग्रन्थ, जिसमें धर्मशास्त्र के अनेक गहन विषयों का बड़ाही मार्मिक विवेचन किया गया है, शिलायन्त्र का छपा "भारती भवन" प्रयाग में मौजूद है । इन्होंने उस ग्रन्थ के अधिवेदन प्रकरण में ऐतरेय ब्राह्मण की "एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बह्वः सहपतयः" इस श्रुति की व्याख्या करते हुवे स्पष्ट पत्यन्तर का विधान किया है; जिसको हम पहले अध्याय में उद्धृत करचुके हैं ।

### २—नीलकण्ठमिश्र ।

ये विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुवे हैं, इन्होंने महाभारत जैसे विस्तृत ग्रंथ को संस्कृत में टीका की है । इन्होंने भी महाभारत के आदि पर्व में उक्त श्रुति की प्रतीक देकर स्पष्ट पत्यन्तर का विधान किया है जिसका उल्लेख पहले अध्याय में होचुका है ।

## ३-सर्वज्ञनारायण ४-नन्दन ५-राघवानन्द।

ये तीनों विद्वान् विक्रम की बारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक हुवे हैं, ये तीनों मनुस्मृति के टीकाकार हैं। इन तीनों ने मनु के "साचेदक्षतयोनिः स्यात्०" इस पद्य के भाष्य में 'अक्षतयोनि' विधवा के विवाह की पुष्टि कीहै। राघवानन्द ने तो 'वा' अव्यय से 'क्षतयोनि' का भी विवाह सिद्ध किया है। जैसा कि हम पहले अध्याय में दिखलाचुके हैं।

## ६-नन्दपण्डित।

तीनसौ वर्ष हुवे काशी में इन्होंने जन्म लिया था, इनका बनाया 'दत्तकमीमांसा' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इन्होंने 'विष्णु' स्मृति की टीका भी की है, जिसका नाम केशव वैजयन्ती' है। उसमें इन्होंने "अक्षताभूयः संस्कृता पुनर्भूः" विष्णुस्मृति के इस मूल की व्याख्या करते हुवे अक्षता विधवा का पुनःसंस्कार के योग्य होना सिद्ध किया है।

## ७—वाचस्पति मिश्र।

ये महाशय सोलहवीं शताब्दी में मैथिलदेश में संस्कृत के अन्यतम विद्वान् हुवे हैं। इनके बनाये 'विवादचिन्तामणि' और 'व्यवहारचिन्तामणि' ये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनका मिथिला में बड़ा आदर है। विवाद चिन्तामणि में ये लिखते हैं—पौनर्भवः षष्ठः सच पुनर्वोढुःसुतः"।

इससे सिद्ध है कि वाचस्पति मिश्र पौनर्भव को पुनर्वोढा का पुत्र मानते हैं। यदि उनकी दृष्टि में 'विधवाविवाह' अयुक्त होता तो उसकी संतान को वे पुनर्वोढा का पुत्र कदापि न लिखते, क्योंकि जारज संतान किसी की पुत्र या उत्तराधिकारी नहीं होसकती।

## ८—मथुमिश्र।

ये महोदय भी ३०० वर्ष हुवे पूर्वीय वंगदेश में संस्कृत के भारी विद्वान् हुवे हैं, इनका बनाया 'विवादचंद्र' नाम ग्रंथ प्रसिद्ध है उसमें ये लिखते हैं :—

"पुनः सवर्णेनोढायां तज्जातः पौनर्भवः"

विधवाविवाह के लिये सवर्ण की शर्त लगाना ही सिद्ध कर रहा है कि ये उसको वैध मानते हैं, अन्यथा अवैध के लिये सवर्ण के बन्धन की क्या आवश्यकता थी ?

## ९—नीलकण्ठभट्ट।

ये सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण में प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं, इनका बनाया 'व्यवहारमयूख' नामक ग्रन्थ महाराष्ट्र देश में मिताक्षरा के समान माना जाता है। ये महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ मिश्र से भिन्न हैं। इन्होंने अन्तिम अवस्था में काशी-वास स्वीकार किया था। ये व्यवहारमयूख में लिखते हैं:—

'अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।

अक्षतायां पूर्वोढा अभुक्तायां क्षतायां तेन भुक्तायां वा वोढान्तरेणोत्पन्नः पौनर्भवः।"

इससे सिद्ध है कि नीलकण्ठ भट्ट याज्ञवल्क्य के समान क्षता और अक्षता दोनों के विवाह को वैध मानते हैं, अन्यथा वोढान्तर से वे पुत्रोत्पत्ति का वर्णन नकरते।

## १०—पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य।

ये प्रसिद्ध विद्वान् पिछली शताब्दी में बंगाल में हुवे हैं इनका बनाया स्मृतितत्व ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध और पाण्डित्य पूर्ण है, जिसमें धार्मिक विषयों की बड़ी ही मार्मिक विवेचना कीगई है। इसीका एक भाग "उद्वाहतत्व" भी है, जिसके

कुछ प्रमाण हमने इस पुस्तकमें कहीं २ पर उद्धृत किए हैं। इसी विद्वान् के विषय में आनरेबिल मिस्टर ग्रान्ट ने सन् १८५६ई० में विधवाविवाह का बिल प्रस्तुत करते हुवे गवर्नर जनरल की कौन्सिल में कहा था कि "बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् 'स्मृतितत्व' के प्रणेता पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य ने अपनी पुत्री का पुनर्विवाह करना चाहा था, पर सजातीयों के विरोध से वह अपने उद्योग में कृतकार्य नहीं हुवा।" ये महाशय 'स्मृति-तत्व' में लिखते हैं:—

क्षतयोन्या अपि संस्कारमाह याज्ञवल्क्यः—
"अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।"

इस अवतरण में पं०रघुनन्दन भट्टाचार्य ने याज्ञवल्क्यः का प्रमाण उद्धृत करते हुवे क्षता और अक्षता दोनों के पुनर्विवाह में अपनी सम्मति प्रकट की है।

## ११–पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

ये महाशय बंगाल में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। हिन्दूधर्म पर इनका जैसा विश्वास था, आजकल के शिक्षितों में होना कठिन है। इनका जन्म सन् १८२० ई० में हुवा था, ये निर्धन मातापिता के पुत्र थे। अपनी व्यक्तिगत योग्यता के कारण ही ये शिक्षाविभाग में उन्नति करते करते इंसपेक्टर के उच्च पद पर पहुंचगये।

आधुनिक हिन्दू समाज में सब से पहला यही धर्मात्मा पुरुष हुवा, जिसने तमाम हिन्दूशास्त्रों का मथन करके विधवा-विवाह को धर्मशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया। इन्होंने विधवाविवाह के समर्थन में बंगभाषा में एक विस्तृत और पाण्डित्य पूर्ण पुस्तक प्रकाशित की जिसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और तर्कसे विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध किया। इस पुस्तक

के प्रकाशित होते ही हिन्दू समाज में युगान्तर उपस्थित हो-गया। बंगाल और काशी के कुछ परिडतोंने उसके प्रति-वाद भी छपवाये, पर इस महारथी ने अकेले ही उन सब के प्रहारों को निष्फल करदिया, फिर किसी को साहस न हुवा कि इनके अकाट्य युक्ति और प्रमाणों का खण्डन कर सके। इन्होंने सैंकड़ों ही उच्च कुलों में विधवाविवाह कराये और अपने पास से बहुत कुछ यौतुक प्रदान किया। सन् १८५६ ई० का सरकारी एक्ट, जिसमें विधवाविवाह को क़ानून में वैध ठहराया गया है, इसी महात्मा के उद्योग का फल है। इस दया के अवतार ने जिसका नाम विधवाविवाह के इति-हास में सदा अमर रहेगा सन् १८९१ ई० में ७१ वर्ष की आयु में अपनी मानवलीला संवरण की।

इस भारतजननी के सुपूत ने केवल वाचिक वीरता ही नहीं दिखाई, किन्तु अपने पुत्र का एक विधवा के साथ वि-वाह करके "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" इस उक्ति को सार्थक बनाकर अपने नैतिक बल का जनता को परिचय भी दे दिया। इसी महापुरुष के विषय में आनरेबिल सर गुरुदास बनर्जी जज हाईकोर्ट बङ्गाल अपने टगोर ला लेकचर में लिखते हैं:—

"परिडत विद्यासागर ने जिनका नाम वैधव्य को उठा देने के लिए संसार में सदा अमर रहेगा, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में सिद्ध किया है कि विधवाओं का पुनर्विवाह शास्त्रानुसार वैध है। उक्त परिडत की इस सम्मति को देश का अधिकांश शि-क्षितवर्ग स्वीकार करता है। सरकार ने भी उस पर ध्यान देकर १८५६ ई० में विधवाविवाह एक्ट १५ भारतीय कौंसिल में पास कर दिया है। (टगोर लालेकचर सन् १८७८ पृ० २५७)।

## १२-महामहोपाध्याय पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न।

ये बंगाल में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि विषयों में इन्होंने कई मार्मिक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका विद्वत्समाज में बड़ा आदर है। इनकी योग्यतापर ही मुग्ध होकर बंगाल सरकार ने इनको संस्कृत कालिज का प्रिन्सिपिल बनाया था। विद्यासागर पर इनकी बड़ी भक्ति थी और ये गुरुवत् उनका आदर करते थे। जब विद्यासागर की प्रसिद्ध पुस्तक के प्रतिवाद में पं० मधुसूदन स्मृतिरत्न ने, जो इनके मित्रों में से थे, एक लेख प्रकाशित किया, तब इन्होंने स्मृतिरत्न महाशय को उनके प्रतिवाद के उत्तर में एक लम्बा पत्र लिखा, जिसकी कुछ पक्तियां हम यहां पर उद्धृत करते हैं—

"आपने जो स्मृतिशास्त्र की आलोचना करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की हैकि पूर्वकाल में यहां विधवाविवाह शास्त्रोक्त नहीं था, यह बात मेरी समझ में नहीं आई। आपने अपने आशय को सिद्ध करने के लिये कतिपय शास्त्रवचनों का सहारा लिया है और खींचतान कर उनके अर्थ को अपने अनूकूल बनाने की चेष्टा की है। यह शैली आप जैसे विद्वानों के अनुकरण योग्य नहीं है। जो मनुष्य जान बूझकर शास्त्र के अभिप्राय को अन्यथा प्रकट करता है. वह जनता को धोखा देता हैं और उसके विश्वास से अनुचित लाभ उठाता है। विद्वान् लोग कभी इस शैली का आदर नहीं करते। आपने अनेक स्मृति ग्रंथों का परिशीलन किया है, जरा बतलाइये तो सही कि किस स्मृतिकार ने यह लिखा है कि विधवाविवाह पूर्वकाल में शास्त्रसिद्ध नहीं था। जिस ग्रंथ को आप प्रमाण कोटि में मान चुके हैं अब उसका कोई वाक्य आपके विरुद्ध आकर

पड़ता है तो आप उसको अप्रमाण कहने लगते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं, यह कहाँ का न्याय है ?"

## १३—सर गुरुदास बनर्जी

विद्यासागर के समान इनका भी हिन्दूधर्म पर अचल विश्वास था। इनकी कानूनी योग्यता इनके टगोर ला लेक्चरों से जो इन्होंने कई वर्ष तक लगातार दिये हैं, प्रकट है। शोक कि इस धर्मात्मा विद्वान् का सन् १८१८ई० में देहावसान होगया। इन्होंने विद्यासागर और विधवाविवाह के विषय में जो सम्मति दी है, उसको हम उद्धृत करचुके हैं। यहां पर हम इनकी उस सम्मति को भी जो अयोग्य विवाहों के सम्बन्ध में इन्होंने प्रकट की है, उद्धृत करते हैं:—

"उन हिन्दूस्त्रियों की दशा जिनका विवाह आरम्भ में कुछ भूल होजाने के कारण शास्त्र से अनुचित ठहराया जाता है, बड़ी ही शोचनीय है। वह भूल जिसके कारण विवाह धर्मशास्त्र से अनुचित ठहराया जाता है, दो प्रकार की है:—

१—जातिभेद जो विवाह के पश्चात् जाना जावे।

२—सगोत्र या सपिण्ड में विवाह सम्बन्ध का होना।

पहली दशा में किन्हीं २ शास्त्रकारों ने यदि वर और वधू का भिन्न २ जाति होना गर्भाधान संस्कार से प्रथम विदित होजाय तो कन्या को पुनःसंस्कार करने की आज्ञा दी है। पर गर्भाधान पश्चात् विदित होने से वह पुनःसंस्कार के योग्य नहीं समझी जाती, पति को अधिकार है कि वह उसे त्यागदे। दूसरी दशामें अर्थात् यह ज्ञात होनेपर कि सगोत्र या सपिण्ड में विवाह हुवा है, पति के साथ समागम न होने पर भी स्त्री को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं, पति उसके योगक्षेम की व्यवस्था करके उसे त्यागदे।

बालविधवा को इतना तो सन्तोष है कि उसके पति की मौत को रोकना मनुष्य की शक्ति के बाहर था, परन्तु माता-पिता की ज़रासी भूल के कारण जो कन्या ऐसी निष्ठुरता से त्यागदी जाय और जन्मभर के लिये विधवा बनादीजाय, उसकी दशा वास्तव में बड़ी ही शोचनीय है। ऐसी दशा में जहां स्त्री को समागम से पहले पतिने त्याग दिया हो, उचित और न्यायसंगत यही है कि उसे पुनर्विवाह की आज्ञा दीजाय और यह बात धर्मशास्त्र के भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि नारद और बृहस्पति दोनों शास्त्रकारों ने ऐसे दान को जो भूल, प्रमाद या अज्ञता से कियाजाय, अनुचित और अदत्त माना है। इसके अतिरिक्त आनरेबिल जस्टिस नारमन चीफ़ जस्टिस बंगाल हाईकोर्टने भी अंजना दासी के अभियोग में जो प्रह्लाद चन्द्र घोषके नाम था, अपनी व्यवस्था में इसका अनुमोदन किया है।"

( देखो टगोर लालेकचर सन् १८७८ पृ० १९०-१९१ )

## १४—बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी

ये महाशय पिछली शताब्दी में वंग साहित्य के सम्राट् हुवे हैं। वंगसाहित्यने जो आज भारत की प्रान्तीय भाषाओं में सर्वोच्च स्थान लाभ किया है, वह इन्हीं के उद्योगका फल है। यद्यपि उसको सींचनेवाले और भी दत्त मित्र आदि बंगाली वीर हुवे, तथापि उसका बीजारोपण करने वाले और उसके प्रवाह को सामयिकता की ओर झुकाकर इस उन्नत दशा में पहुंचाने वाले यही महाशय हुवे हैं। प्रस्तुत विषय में वंगदर्शन से हम इनकी सम्मति उद्धृत करते हैं:—

"पुरुष पत्नीवियोग के बाद फिर विवाह करने का अधिकारी है तो साम्यनीति के अनुसार स्त्री भी पतिवियोग के बाद पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी है। यहाँपर प्रश्न हो

सकता है कि यदि पुरुष पुनर्विवाह का अधिकारी है, तभी तो स्त्री भी अधिकारिणी है, तो क्या पुरुषों को पुनर्विवाह करना उचित है ? उचित है या अनुचित हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते। हमारी सम्मति में मनुष्यमात्र को यह अधिकार है कि जिसमें दूसरे का अनिष्ट न होता हो, ऐसे प्रत्येक कार्य को वह प्रवृत्ति के अनुसार कर सकता है। अतएव पत्नी-वियोगी पति अथवा पतिवियोगिनी पत्नी दोनों ही इच्छा होने पर पुनर्विवाह के अधिकारी हैं।" ( वंगदर्शन ४ खण्ड )

## १५—डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र।

बंगाल में ये महाशय संस्कृत तथा अन्य भाषाओंके प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। इन्होंने प्राचीन साहित्य के अन्वेषण में बड़ा परिश्रम किया है। इनकी संकलित और परिष्कृत की हुई शतशः पुस्तकें और निबन्ध आदि संस्कृत, बंगला और इंगलिश भाषा में एशियाटिक सोसायटी बंगाल की ओर से प्रकाशित हुई हैं, जिनसे इनकी उच्चकक्षा की योग्यता का परिचय मिलता है। अपनी योग्यता के कारण ही इन्होंने बृटिश सरकारसे भी बहुत कुछ सम्मान और उपाधियाँ प्राप्त कीं। पं० राजाराम शास्त्री काशीनिवासी ने विधवाविवाह के विरुद्ध वेदमंत्रों के अर्थ का जो अनर्थ किया था, उसकी इन्होंने खूब पोल खोली है और विधवाविवाह को श्रुति, स्मृति और पुराणों से वैध सिद्ध किया है। इन्होंने सन् १८८४ में अपने मित्र मलाबारी को, जो उस समय इङ्गलैण्ड में थे, एक पत्र लिखा था, जिसकी कुछ पंक्तियां जो विधवाविवाह से संबंध रखती हैं, हम यहां उद्धृत करते हैं:—

"विधवाविवाह के विरुद्ध जो प्रमाण दियेजाते हैं, वे पहले इसको शास्त्रविरुद्ध मान कर पीछे खोजे जाते हैं। इस दशा

में जो प्रमाण इसके अनुकूल हैं या तटस्थ हैं, उनको भी खींच तानकर इसके प्रतिकूल बनायाजाता है। मेरे कोई विधवापुत्री नहीं है, यदि होती तो मैं अवश्य उसका पुनर्विवाह करता और उसकी वैधव्य दशाका अनुभव करके मुझपर या समाज पर उसका कुछ ही प्रभाव क्यों न पड़ता, पर मैं उसकी बिलकुल परवा न करता।"

## १९-सर रमेशचन्द्र दत्त।

ये महाशय संस्कृत, इङ्गलिश और बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद तथा रामायण और महाभारत के इङ्गलिशमें अनुवाद किये हैं, तथा भारतकी प्राचीन सभ्यता का इतिहास लिखा है, जो चार भागों में पूर्ण हुआ है, जिससे इनकी गहरी ऐतिहासिक योग्यता का परिचय मिलता है। अपनी योग्यताके ही कारण ये कई वर्ष तक बंगाल में कलेक्टर और कमिश्नर के उच्च पदों पर रहे। यही पहले हिन्दुस्तानी थे, जिनके हाथ में सरकार ने एक किस्मत का चार्ज दिया।

इनके गुणों पर मुग्ध होकर ही गुणग्राही हिज़ हाइनेस महाराजा गायकवाड़ ने इनको अपने विस्तृत राज्य का दीवान नियत किया। रियासत बड़ौदा की जो आज उन्नति हुई है और जो किसी २ अंशमें बृटिशभारत में भी स्पर्धा की दृष्टि से देखी जाती है, वह यद्यपि महाराजा गायकवाड़ की दूरदर्शिता और प्रजावत्सलता का फल है। तथापि उसमें दत्त जैसे योग्य कर्मचारियों का भी बहुत कुछ हाथ है। क्योंकि बिना योग्य कर्मचारियों की सहायता के कोई शासक शासन में सफलता प्राप्त नहीं करसकता। इनके समय में रियासत बड़ौदे में बहुत कुछ सुधार हुवे और वह देसी रियासतों में आदर्श मानी जाने लगी। शोक कि सन् १९०९ ई० में भारत के इस विद्वान् का

बड़ौदेमें ही देहान्त होगया। ये भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यताके इतिहासमें लिखते हैं किः—

" प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे बहुत से प्रमाण हैं, जिनसे पौराणिक काल में विधवाविवाह का प्रचलित होना सिद्ध होताहै। विष्णु कहता है कि " जिस स्त्रीका दूसरीवार विवाह होता है, वह 'पुनर्भू' कहलाती है।" याज्ञवल्क्य कहता है कि " क्षता और अक्षता दोनोंका पुनःसंस्कार होना चाहिए।" और पराशर भी यद्यपि वह आधुनिक समयका स्मृतिकार है, ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देता है, जिसका पति मरगया हो या जातिबाह्य, देशबाह्य या योगी होगयाहो" [ प्राचीनसभ्यता का इतिहास चौथा भाग पृ० २५२ ]

## १७–पं० विष्णु परशुराम शास्त्री।

ये दक्षिण में संस्कृतके प्रसिद्ध विद्वान हुये हैं। इन्होंने सन् १८६५ ई० में मराठी भाषा में विधवाविवाह के समर्थन में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसपर दक्षिण के पण्डितों ने बड़ा कोलाहल मचाया और अण्डबण्ड आक्षेप किये। इन्होंने उनके युक्तियुक्त और समीचीन उत्तर देकर तथा उपदेश और शास्त्रार्थ करके विपक्षियों का मुँह बन्द किया। पूने के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में जिसमें डाक्टर बुल्हर भी मौजूद थे, विधवाविवाह के विपक्षियों को परास्त कर इन्होंने ही यश प्राप्त किया था। इन्होंने अपना विवाह भी एक कुलीन विधवा के साथ किया था और यावज्जीवन इसका प्रचार करते रहे।

## १८–दीवानबहादुर पं० रघुनाथराव

ये महाशय पहले इन्दौरराज्य के दीवान थे। आजकल मदरास में वकालत करते हैं। संस्कृतमें इनकी योग्यता उच्चकक्षा

की है। इन्होंने विधवाविवाह के समर्थन में कई पुस्तकें और निबन्ध।प्रकाशित किये हैं। इन्हीं की एक पुस्तक से डाक्टर मुकुन्दलाल आगरा ने अपनी सनातनधर्म नामक पुस्तक में अनेक ऋषियों के वचन संग्रह किये हैं, जिन को हमने भी इस पुस्तक के पहले अध्याय में उद्धृत किया है। खेद है कि असिल पुस्तक अनुसंधान करने पर भी हमको न मिली।

## १९-डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर।

ये महाशय दक्षिण में संस्कृत के असाधारण विद्वान् हैं। बम्बई प्रान्त में इन्होंने शिक्षा के प्रचार एवं संस्कार में बड़ा काम किया है। बृटिश सरकार ने भी इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर इनको कई उच्च उपाधियों से अलंकृत किया है। इनकी बनाई हुई अनेक पाठ्य पुस्तकें शिक्षा विभाग में प्रचलित हैं। स्त्रीशिक्षा और विधवाविवाह के प्रचार में भी दक्षिण में इन्होंने बड़ा काम किया है। केवल वाचिक सहानुभूति ही नहीं, किन्तु अपनी विधवा पुत्री का पुनर्विवाह करके इन्होंने अपने नैतिक बल का परिचय भी जनता को देदिया।

## २०—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।

हिन्दी भाषी कौन ऐसा होगा, जिसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का परिचय देना होगा। हिन्दी भाषा जो आज देवनागरी के पवित्र नाम से पुकारी जाती है और आज समस्त भारत बिना मतभेद के जिसे राष्ट्रभाषा के आसन पर बिठाना चाहता है, यह सब इन्हीं महात्मा के उद्योग का फल है। सचमुच भारत में हिन्दी भाषा की निर्मल चन्द्रिका इन्हीं की चमकाई हुई है, इसलिये इनका भारतेन्दु नाम अन्वर्थ ही है। ये अपने बनाये भारतदुर्दशा नाटक में लिखते हैं:—

जन्मपत्र विन मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहिं प्रीति बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बलवीर्य नशायो।
विधवा व्याह निषेध कियो व्यभिचार मचायो॥
रोकि विलायत गमन कूप मण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥

## २१-जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे।

ये महाशय भी संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के पूर्ण विद्वान् थे अपनी असाधारण योग्यता के कारण ही उन्नति करते २ ये बम्बई हाईकोर्ट के जज होगये। इनके जीवन का बड़ा भाग सामाजिक सुधार में व्यतीत हुवा। विधवाविवाह से इनकी हार्दिक सहानुभूति थी। सरकारी सेवा के उपरान्त इनको जो समय मिलता था, वह समाजसेवा और कुरीतिनिवारण में ही व्यतीत होता था। यद्यपि ये राजनीति के पण्डित और यथावकाश उसमें भाग भी लेते थे, लखनऊ में जो पहली कांग्रेस हुई थी, उसके सभापति भी बनचुके थे। तथापि ये उन नेताओं में से नहीं थे, जो राजनैतिक सुधार को ही सब कुछ समझते हैं। सामाजिक सुधार की आवश्यकता इनकी दृष्टि में सबसे अधिक थी। नैशनल कांग्रेस के साथ जो सोशलकांफ्रेन्स होती है, उसकी योजना इन्होंने ही की थी। उसके अतिरिक्त और भी अनेक सामाजिक संस्थायें इन्होंने स्थापित कीं और उनको सहायता देते और चलाते रहे। इतने उच्चपद पर प्रतिष्ठित होकर भी ये साधारण पुरुषों की भान्ति रहते थे, इनकी सादी चाल और पहनावे को देखकर कोई इनको पहचान नहीं सकता था कि ये हाईकोर्ट के जज होंगे। इन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों ही उच्चकुलों में विधवाविवाह

कराये, यहांतक कि मरने से कुछ देर पहले भी ये एक भाटिया जाति की विधवा के विवाहोपलक्ष्य में गवर्नर पत्नी लेडी नार्थ कोर्ट को आमन्त्रित करने का प्रबन्ध कर रहे थे, परन्तु मृत्यु ने इसका अवसर नहीं दिया।

पूर्णचन्द्र में कलङ्क और फूल में कांटे की भान्ति एक निर्बलता इस समाज सेवक के जीवन में भी खटकती है और वह इनका पहली स्त्री के वियोग में कुमारी कन्या के साथ विवाह करना है। यदि और कोई ऐसा करता तो शायद् उसका अपराध क्षम्य होसकता, परन्तु इन्होंने अपने सिद्धान्त और उद्देश के विरुद्ध यह काम किया, इसलिए वह कदापि क्षमा के योग्य नहीं होसकता इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने यह काम अपनी इच्छा से नहीं किया, किन्तु वृद्ध मातापिता की प्रसन्नता के लिए ही इनको ऐसा करना पड़ा। तथापि यह हेतु पर्याप्त नहीं है। एक दायित्वशील व्यक्ति के लिए माता पिता से भी अधिक ईश्वर की आज्ञा का महत्व होना चाहिए। यदि विधवा के साथ विवाह करने से इनके माता पिता को दुःख होता था तो ये उनकी प्रसन्नता के लिए ऐसा न करते। पर इसका अधिकार इनको कब था कि ये माता पिता की प्रसन्नता के लिए ईश्वरीय नियम की अवज्ञा करते। अस्तु इन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों बालविधवाओं का उद्धार किया और हज़ारों मनुष्यों के हृदय में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न की, इसलिए हम समझते हैं कि इनके इस नैतिक अपराध का प्रायश्चित्त भी पूरा पूरा होगया।

## २२—जस्टिस गणेशचन्द्र वार्कर।

ये महाशय भी बम्बई प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और योग्य पुरुषों में से थे, शोक कि अभी हाल ही में इनका स्वर्गवास

हुवा है। ये भी दीर्घकाल तक बम्बई हाईकोर्ट के जज रहे और सरकार से बहुत कुछ मान और यश प्राप्त किया। कुछ दिन हुवे बंगाल के निर्वासितों के कारण का अनुसन्धान करने के लिए जो कमीशन नियत हुवा था, उसके एक ये भी सदस्य थे इन्होंने सरकारी सेवा के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों का भार लेकर जनता की भी बहुत कुछ सेवा की है। सच तो यह है कि जस्टिस रानाडे के बाद सामाजिक सुधार का सारा भार इन्होंने ही अपने कन्धे पर धारण किया। सोशल कांफ्रेन्स को जिसकी स्थापना मिस्टर रानाडे ने की थी, सुचारुरूप से चलाना और उपयोगी संस्था बनाना इन्हीं का काम था। विधवाविवाहसे इनकी पूरी सहानुभूति थी और उसके प्रचार में भी इन्होंने बड़ा काम किया। 'विधवाविवाह' नामक पुस्तक में से हम आपकी सम्मति यहां उद्धृत करते हैं:—

"समाज का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए विधवाविवाह की बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई स्त्री वा पुरुष अपने पहले पति या स्त्री के मरने पर अपना पुनर्विवाह करना न चाहें और अपना शेष जीवन धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन करने में लगावें तो वे निःसन्देह समाज में आदर और पूजा के योग्य हैं। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उन बाल-विधवाओं को जिनका पूर्व पति अल्पवय में ही मर गया हो और जो सुहागिन और विधवा के अर्थ को भी न जानती हों, उनको एक महानिष्ठुर और अप्राकृतिक देशाचार के कारण आजन्म वैधव्य का पालन करने के लिए बाधित किया जाय। यद्यपि औपयोगिक रीति पर सर्वसाधारण अभी इस आवश्यक विषय पर कम ध्यान देते हैं, तथापि यह सन्तोष की बात है कि उनकी सहानुभूति विधवाविवाह से दिन पर दिन

बढ़ती जाती है। इस संस्कार से मेरा यह अभिप्राय है कि जो अनुचित प्रतिबन्ध का आवरण इस निष्ठुर आचार ने समाज पर डाला हुआ है, केवल उसको हटा दिया जाय और किसी प्रकार का दबाव किसी पर न डाला जाय। पुनर्विवाह करना या न करना विधवा और उसके संरक्षकों की इच्छा पर छोड़ दिया जाय।"

## २३-जस्टिस काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग

दक्षिण में ये महाशय भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं इन्होंने अपनी असाधारण योग्यता से ऐसे समय में जबकि यहां अंगरेज़ी शिक्षा अप्रौढ दशा में थी, उसमें पारङ्गत होकर एम० ए० की उच्च डिगरी प्राप्त की और अपनी कार्यदक्षता से बम्बई हाईकोर्ट के जज बनाये गये। बम्बई प्रान्त में सामाजिक सुधार का बीज बोना इन्हीं का काम था। रानाडे और चंद्र-वार्कर तो उसके सींचने वाले थे। सन् १८६६ ई० में बम्बई में जो विधवाविवाह सहायक सभा स्थापित हुई थी, वह इन्हीं के सदुद्योग का फल था और येही उसके प्रधान बनाये गये। इस सभा ने विधवाविवाह के प्रचार में उस समय बड़ा काम किया था। मिस्टर तैलंग आजीवन सामाजिकसुधार का काम बड़े उत्साह से करते रहे, मरते समय अपना चार्ज अपने शिष्य रानाडे को देगये।

## २४-जस्टिस आशुतोष मुकर्जी

ये ब्राह्मण जाति के भूषण बंगालके प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। १५वर्ष तक कलकत्ता हाईकोर्ट की जजीके उच्चपद पर प्रतिष्ठित रहकर अभी हाल में इन्होंने सरकार से पेन्शन ली है और अब स्वतन्त्रता पूर्वक राजनैतिक और सामाजिक सुधार में भाग

होते हैं। इन्होंने अपनी विधवा पुत्री का विवाह ता० २४ फर्वरी सन् १६०८ ई० में किया। ( देखो विधवाविवाह राय बहादुर नानकचन्द रचित )

## २५—सर. टी. मुथू स्वामी आयर।

ये महाशय मदरास प्रान्त में बड़े विद्वान् और प्रसिद्ध पुरुष हुवे हैं। ये भी अपनी असाधारण योग्यता के कारण मदरास हाईकोर्ट के जज बनायेगये। ये जाति के ब्राह्मण थे, इसलिए इनका विधवाविवाह के पक्षमें होना उसकी उपयोगिता का प्रमाण है। इन्होंने 'भारतीय प्रतिनिधि' नामक पुस्तक में विधवाविवाह के विषय में अपनी जो बहुमूल्य सम्मति प्रदान की है, उसको हम यहांपर उद्धृत करते हैं:—

"स्त्री केवल एक ही विवाह करसकती है और पुरुष जितने उसका जी चाहे, पहली स्त्रियों के मौजूद होने पर भी विवाह करसकता है। स्त्री और पुरुष के इस वैवाहिक अन्तर को समाज की भेदनीति और भी कठोर बनादेती है। इस दशा में यदि कोई सहृदय समाज हितैषी इस विषमाचार का अप्राकृतिक और असमंजस समझकर इसका प्रतिवाद करे तो वह दोषी नहीं होसकता। मैं इसी न्याय और मानुषिक सभ्यता के आधार पर विधवाविवाह को उचित और आवश्यक समझता हूं, चाहे वे बालविधवा हों, या पति से उनका कुछ संबन्ध भी रहा हो।"

## २६—दाजी. आबाजी खरे बी० ए०

ये महाशय बम्बई हाइकोर्ट के नामी वकील हैं। इनकी विद्या और योग्यता उस प्रान्त में प्रसिद्ध है। सामाजिक सुधार में इन्होंने भी बहुत कुछ भाग लिया है और लेते हैं। इन्होंने विधवाविवाह पर एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें बड़ी

योग्यता से विधवाविवाह का उचित और वैध होना सिद्ध किया है।

## २७—पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी।

ये महाशय पंजाब के फुल्लौर नगर में संस्कृत के असाधारण विद्वान् हुवे हैं। इनका बनाया 'सत्यामृतप्रवाह' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसमें इन्होंने ऐसी योग्यता से मनुष्य के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है कि उससे आस्तिक और नास्तिक सभी लाभ उठा सकते हैं। उसी ग्रन्थमें ये लिखतेहैं:—

"विधवा स्त्री और विपत्नीक पुरुष को यदि उनका मन चाहे तो दूसरा विवाह अवश्य करना चाहिए।"

( सत्यामृतप्रवाह पृ० २५६ )

## २८—पं० गोपाल शर्म्मा शास्त्री।

आप संस्कृत के अन्यतम विद्वान् हैं और हिज़हाइनेस महाराजा काश्मीर के राजगुरु हैं। आपने संवत् १९७० वि० में 'गोपाल सिद्धान्त, नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिस में विधवाविवाह के पोषक अनेक प्रमाण संग्रह किये हैं, उसी में एक स्थल पर आप लिखते हैं:—

"जिस कामदेव के वश होकर पर्णाशी विश्वामित्र और पराशर आदि जप, तप और संयम सब भूलगये। जिस महाबली कामने शिवजी महाराज को मोहिनी के पीछे, ब्रह्माजी को अपनी दुहिता के पीछे और देवराज इन्द्र को ऋषिपत्नी अहल्या के पीछे पागल बनाया, उस काम का मुक़ाबला करने के लिए हम इस अबला जाति को, जिसमें स्वभावतः आठ-गुणी कामचेष्टा अधिक है, खड़ा करते हैं।"

( गोपाल सिद्धान्त पृष्ठ ५ )

## २६-श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

भारत के आवालवृद्ध इन महाशय के नाम और काम से परिचित हैं। आर्यसमाज के जो आज पश्चिमोत्तर भारत में शिक्षाप्रचार और सामाजिक सुधार में सबसे अधिक भाग लेरहा है, संस्थापक येही महाशय थे। इन्होंने संन्यास धारण करके आजन्म वैदिक धर्म के उपदेश और प्रचार का काम किया। संस्कृत और हिन्दीभाषा में इन्होंने कई ग्रन्थ निर्माण किये हैं, जिनमें "सत्यार्थप्रकाश" प्रसिद्ध है। उसमें प्रस्तुत विषय में ये अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं:—

"जिस पुरुष या स्त्री का पाणिग्रहण संस्कार मात्र हुवाहो और संयोग न हुवा हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षत वीर्य पुरुषहो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।" ( सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११६ )

## ३०-पं० राधाचरण गोस्वामी।

ये महाशय वैष्णव संप्रदाय के एक प्रतिष्ठित आचार्य हैं। बृन्दावन में श्री राधारमण का जो मंदिर है, उसके अधिष्ठाता और बृन्दावन के म्यूनिसिपल कमिश्नर भी हैं। हिन्दी भाषा से इनको बड़ा प्रेम है, उसमें इन्होंने कई पुस्तकें प्रकाशितकी हैं, जिनमें 'विदेशयात्राविचार' और 'विधवाविवाहविवरण' ये दो पुस्तकें बडे मार्के की हैं। पहली में इन्होंने समुद्रयात्रा को शास्त्रानुकूल सिद्ध किया है। दूसरी में विधवाविवाह को शास्त्रोक्त सिद्ध करने के अतिरिक्त बालविधवाओं की करुणाजनक दशा का ऐसा हृदयद्रावक चित्र खींचा है कि जिसको देख या सुनकर एकवार तो पाषाणहृदय भी पिघलजावे। उसकी भूमिका में ये लिखते हैं :—

"मैं वैश्णव संप्रदाय का एक आचार्य हूं, विवाह आदि संस्कार वैश्णवधर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं रखत, ये स्मार्ताचार हैं, उनके विषय में विचार करने से वैश्णव धर्म का कुछ अपमान नहीं होता। यदि इसपर विचार करने से हमारे स्मार्ताचारानुयायी भाई कुछ रुष्ट हों तो उनसे निवेदन है कि मैं विधवाविवाह को शास्त्रोक्त समझताहूं, इसीसे इसका समर्थन करताहूं।"

## ३१–पं० विष्णु विट्ठल श्रीखण्डे।

ये महाशय जबलपुर नौरमल स्कूल के अध्यापक थे इन्होंने हिन्दी में एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका नाम 'विधवा दुःखनिवारण है और जिसमें श्रुति स्मृति के प्रमाणोंसे विधवा विवाह का वैध होना सिद्ध कियागया है।

## ३२—पं० श्रीधरपाठक।

आप संस्कृत के विद्वान् और हिन्दी के परम हितैषी हैं। प्रयागसाहित्य सम्मेलनके आप सभापति भी बनचुके हैं। संस्कृत और हिन्दी दोनों में ही मर्मस्पर्शिनी कवितायें करते हैं, जिनका विद्वानों में बड़ा आदर है। आप अपनी एक नवीन कविता में लिखते हैं:—

"प्रीति मान मर्याद की विधिमूलसों मिटगई।
निरपराधिनि बालिका लघु वयस् मृत्यु लरकई॥
ब्याहि रांड बनाइये, यह कौनसी सुघरई।
जन्म भर विधदेह जारत काम बल कठिनई॥
निबल प्रान सताइबे में कहु कहा ठकुरई।
स्वार्थ प्रिय पाषान सो हिय निपट शठ निरदई॥
बालविधवा शाप बस यह भूमि भई पातकमई।
होत दुखः अपार सजनी निरखिकर जग निठुरई॥

## ३३-ला० गंगाप्रसाद एम० ए० उपाध्याय।

आप इस समय न केवल आर्यसमाज के भूषण हैं, किन्तु समस्त हिन्दू जाति को आप जैसे योग्य विद्वान् और देश भक्त का गर्व है। आप प्रस्तुत विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं:—

'भारत वर्ष में विधवाओं की दुर्दशा है, न केवल वही दुःखी हैं, किन्तु उनके कारण समस्त जाति दुःखी है। कहते हैं कि कानी आँख से लाभ तो कुछ नहीं, परन्तु जब दुखने आजाय तो पीड़ा देती है। किन्तु विधवायें वे कानी आँख हैं, जो नित्य दुखती ही रहती हैं। आजकल भारतवर्ष में बालविवाह तथा अन्य कुरीतियों के कारण विधवाओं की संख्या इतनी बढ़ गई है और एक वर्ष से लेकर पाँच, दस, पन्द्रह तथा बीस वर्ष की आयु की इतनी विधवाये हैं कि जाति के नेताओं के लिये यह एक बड़ी विभीषिका होगई है।" (चाँद अप्रैल २३ ई०)

## ३४-रायबहादुर नानकचन्द सी-आई-ई

ये महाशय पहले इन्दौर स्टेट के दीवान थे, इनकी योग्यता इनके पद और कार्यदक्षता से प्रकट है। ये वैश्य जाति के भूषण हैं। सन् १९०६ ई० में इन्होंने अपने पुत्र का एक विधवा के साथ विवाह किया। अपनी अनाथा विधवा पुत्री का जो पुनर्विवाह करते हैं, वे तो प्रशंसा के योग्य हैं ही. पर अपने पुत्र का जो विधवा के साथ विवाह करते हैं, वे उनसे भी अधिक प्रशंसा के पात्र हैं। इसलिये कि उनको तो कुमारी कन्यायें मिल सकती थीं, पर विधवाओं के लिए अभी हिन्दू-समाज में योग्यवर का मिलना ज़रा कठिन है। इसलिये किसी विधवा के लिये योग्यवर को तय्यार करने वाले वस्तुतः अधिक

धन्यवाद के पात्र हैं । इन महाशय ने वैश्य जातिके लिये कैसा उत्तम आदर्श उपस्थित किया है, अब भी वह यदि इससे लाभ न उठावै तो यह जाति की मन्दभाग्यता है । इन्होंने 'विधवा-विवाह' नामकी एक पुस्तिका भी हिन्दी में प्रकाशित की है जिसके अन्त में ये लिखते हैं:—

"इससे सिद्ध है कि विधवाविवाह शास्त्र से अनुमत और विद्वानों के सम्मत है और इसके रोकने में एक प्रकार का पाप है । इसलिये सज्जन पुरुषों को इस विषय में पूर्ण-विचार करके अनाथ विधवाओं की सहायता करनी चाहिये ।"

## ३५—रायबहादुर डाक्टर मुकन्दलाल

ये महाशय आगरे में सिविल सर्जन थे, इन्होंने मेडिकल सर्विस में बहुत कुछ यश और साथही धन भी उपार्जन किया । सरकारने इनकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर इनको वाइसराय का फ़ैमिली डाक्टर नियत किया था । ये जाति के कायस्थ थे, इनकी प्यारी पुत्री ६ वर्ष की अवस्था में विधवा होगई थी, उसका ये पुनर्विवाह करना चाहते थे । परन्तु विवाह से पहले इन्होंने इस विषय में अपने जातीय बान्धवों की सम्मति लेनी चाही । अबतो शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक जाति में विधवा विवाह से सहानुभूति रखनेवाले पुरुष मिलते हैं, उस समय यह बात नथी । इनके इस प्रस्ताव का कायस्थ जातिने बड़ा विरोध किया । इसपर इन्होंने पण्डितों से व्यवस्था ली और एक पुस्तक 'सनातन धर्म' के नामसे जिस में विधवाविवाह का श्रुति स्मृति और पुराणों से समर्थन कियागया है प्रकाशित की । परन्तु जातीय विरोध के कारण इनको अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई । निदान विधवापुत्रीके दुःख से संतप्त होकर ही इनकी आत्मा ने इस भौतिक शरीर को त्यागा।

## ३६-राय डाक्टर मुरारीलाल।

ये महाशय पहले कानपुर में हेल्थ आफ़िसर थे, अब अवसरप्राप्त होकर स्वतन्त्र चिकित्साका व्यवसाय करते हैं। ये जाति के वैश्य हैं। इन्होंने भी सन् १९०४ ई० में अपनी विधवा भगिनी का पुनर्विवाह करके अपने नैतिक बल का परिचय दिया है। इन्होंने उर्दू में एक पुस्तक 'रिसाले विधवाविवाह' के नाम से प्रकाशित की है, जिसमें बड़ी खोज और परिश्रम से शास्त्रीय प्रमाणों का सन्निवेश किया गया है और विरोधियों के आक्षेपों के उत्तर भी बड़ी योग्यता से दियेगये हैं। आप उसकी भूमिका में लिखते हैं:—

"वर्तमान काल की अल्पवयस्का, दयनीया, हिन्दू विधवाओं की दशा जैसी कुछ शोचनीय है, वह वर्णनातीत है। विधवाविवाह के अप्रचार से जो जो सामाजिक और नैतिक बुराइयां हमारे समाज में प्रचलित होगई हैं, वे किसी समाज के शुभचिन्तक से छिपी नहीं हैं। बालविवाह के प्रचार ने उन बुराइयों को और भी भयानक करदिया है। इसलिए प्रत्येक देशहितैषीका कर्तव्य है कि वह उन अनर्थों के और साथ ही इन अबोल बालविधवाओं के दुःख दूर करने में यथाशक्ति यत्न करके धन्यवादका पात्र हो।"

## ३७-पं० शंकरलाल श्रोत्रिय।

ये महाशय गौड़ ब्राह्मण थे। इन्होंने अपना सारा जीवन ही विधवाविवाह के प्रचार में अर्पण कर दियाथा। उत्तर भारत के उच्च कुलों में इनके प्रयत्न से सैकड़ों ही विधवाविवाह हुवे। बीसियों अनाथ विधवाओं के इन्होंने अपना धन लगाकर विवाह कराये और कन्याओं को अपनी तरफ़ से यौतुक प्रदान किया। जिन विधवाओं का कोई कन्यादान करने वाला

नहीं होता था, ये स्वयं पिताके आसन पर बैठकर कन्यादान करते थे। मरते दम तक इनको इसी की धुन रही। पहली स्त्री का वियोग होनेपर इनकी विवाह करने की इच्छा न थी, क्योंकि जिसके लिए विवाह करते हैं, वह सन्तान इनके मौजूद थी। पर जब लोगोंने इनपर आक्षेप करने आरम्भ किये और ये शब्द इनके कानोंने सुने कि "दूसरों के घर ही आग लगाया जाता है, अपने घर में आग लगावें तब हम जानें।" तब इनसे न रहागया और आवश्यक न होनेपर भी इन्होंने एक विधवा के साथ विवाह किया। इनकी जातिवालों ने बड़ा विरोध किया और इनके साथ खान पान आदि व्यवहार भी त्याग दिया, पर इसकी इन्होंने कुछ परवा न की। यह ध्रुवके समान अपने पवित्र उद्देश पर जमा रहा।

इन्होंने विधवाविवाह के विषय में कई पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें 'विधवा पुनः संस्कार' प्रसिद्ध है, जिसमें श्रुति, स्मृति और पुराणों के अनेक प्रमाणों से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध कियाहै। एक मासिक पत्र भी "अबला हितकारक" नाम से ये निकालते थे। उसमें विधवाविवाह सम्बन्धी बहुत से लेख और समाचार प्रकाशित होते थे। शोक कि इनकी मृत्यु के साथ उस पत्र का भी अन्त होगया।

## ३८—डाक्टर तेजबहादुर सप्रू।

भारत के आधुनिक राजनैतिक नेताओं में आप मुख्य समझे जाते हैं। आपकी कानूनी योग्यता सरकार और जनता दोनों की दृष्टि में आदरणीय है। कई वर्ष तक आप भारत सरकार की कानूनी कौन्सिल के मेम्बर रहचुके हैं। अभी हाल में आप लन्दन की इम्पीरियल कान्फ्रेन्स में भारत सरकार के प्रतिनिधि होकर गये हैं और वहां आपने जो मार्मिक वक्तृता

की है, उसकी न केवल भारत में किन्तु साम्राज्य भर में प्रशंसा होरही है। विधवाविवाह के विषय में आपने जो अपनी सम्मति प्रकट की है। हम प्रयागके मासिक पत्र चान्द से यहां उद्धृत करते हैं। उक्त पत्र के प्रतिनिधि के यह पूछने पर कि विधवाविवाह के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? आपने कहाः—

"मैं सर्वथा विधवाविवाह के पक्ष में हूं, विधवाओं का पुनर्विवाह अवश्य होना चाहिए, ऐसा न करना मैं मनुष्यता के विरुद्ध समझता हूं।"

पुनः यह प्रश्न करने पर कि क्या सब विधवाओंके सम्बंध में आपका यही विचार है? आपने कहाः—

"बालविधवाओं का पुनर्विवाह तो अवश्य ही होना चाहिये। पर अन्य विधवाओं की इच्छा पर पुनर्विवाह का प्रश्न छोड़ देना चाहिए। यदि स्त्री की इच्छा हो तो इसमें किसी प्रकार की रोक टोक न होनी चाहिए और समाजमें उनके प्रति अश्रद्धा के भाव न होने चाहिए।"

## ३९—महात्मा मोहनचन्द कर्मचन्द गान्धी।

क्या भारतीओं के लिए महात्मा गान्धी के भी परिचय देने की आवश्यकता है? भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु संसार में महापुरुष मानाजानेवाला महात्मा गांधी अपनी विधवा बहनों के विषय में नवजीवनमें निम्नलिखित सम्मति प्रकट करता है:—

१—बालविवाह एकदम रोक दिया जावे।

२—जबतक पति और पत्नी इस अवस्था तक न पहुंचे कि एक दूसरे के साथ रह सकें, तब तक उनका विवाह न होना चाहिए।

३—जो बालिकायें अपने पति के साथ नहीं रही हैं, उन्हें केवल विवाह करने की आज्ञा ही नहीं, किन्तु उसके लिए उत्साहित भी करना चाहिए। ऐसी लड़कियों को तो विधवा ख़याल ही न करना चाहिए।

४—वे विधवायें जिनकी अवस्था १५ वर्ष तक है या जो अभी युवती हैं, उन्हें पुनर्विवाह करने की आज्ञा देनी चाहिये।

५-विधवाको लोग अशुभ समझते हैं, किन्तु इसके विपरीत उसे पवित्र समझना चाहिए।

६—विधवाओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

## ४०—पं० कृष्णकान्त मालवीय।

आप मालवीय कुल के भूषण हैं, परम देशभक्त होने के अतिरिक्त आप में जो विशेष गुण है, वह आपकी स्पष्टवादिता है। आप जिस निर्भीकता से सरकार के दोषों की आलोचना करते हैं उसी से अपने समाज की निर्बलताओं को भी प्रकट करते हैं। बड़े २ संकट और भीड़ के अवसरों पर भी आपने अपने आत्मिक बल का परिचय दिया है। प्रस्तुत विषय में हम आपकी सम्मति अप्रैल सन् १९२३ के 'चांद' प्रयाग से उद्धृत करते हैं:—

"जो विधवायें विवाह करना चाहें, उनके मार्ग में अड़चनें न होनी चाहियें। इसके साथ ही बालविधवाओं को उनकी अवस्था और भविष्य पर ध्यान रखते हुवे यह परामर्श देना कि वे अपना विवाह करलें, अनुचित न समझा जाना चाहिए।"

## ४१-पं० रमाशंकर अवस्थी।

आप प्रताप और वर्तमान आदि कई उच्चकोटि के समाचार पत्रों का संपादन करचुके हैं। आपकी देशभक्ति और

स्पष्टवादिता भी समाचारपत्रों के पाठकों से छिपी नहीं है। आप विधवाओं की करुणाजनक दशा पर 'वर्तमान' में लिखते हैं:—

"लाखों विधवायें हिन्दू जाति के नाम पर रोरही हैं। लेकिन निर्दय और हृदयहीन हिन्दू जरा भी दयार्द्र नहीं होते। यह घोर अधर्म देशको, जातिको, धर्म को और समाज को एक दिन ले डूबेगा और शीघ्र ही इस भयंकर भूल का सुधार न किया जायगा तो हिन्दू जाति का संसार से नाम मिट जायगा।"

## ४२-प्रोफेसर मैक्समूलर।

शिक्षित भारतवासियों में कौन ऐसा है, जो इस जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् को नहीं जानता। विदेशी होकर इन्होंने संस्कृत साहित्य का जैसा परिशीलन किया है, उसकी सहस्र मुखसे प्रशंसा करनी पड़ती है। इन्होंने संस्कृत के बड़े बड़े प्राचीन ग्रंथों का जीर्णोद्धार किया है और उनपर बड़ी अनुसन्धानात्मक और पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावनायें एवं अनुक्रमणिकायें लिखी हैं। ऋग्वेद तथा और कई वैदिक ग्रन्थों का इङ्गलिश में अनुवाद किया है। निदान प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धार में इन्होंने जो प्रयत्न और परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा भारतीय विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से की है। ये महाशय अपने "चीप्स फ्राम जर्मन वर्कशाप" नामी ग्रन्थ के ३१२ पृष्ठ में लिखते हैं:—

"मैंने जहां तक वेदों का अध्ययन किया है, मुझे कोई ऐसा मंत्र नहीं दीख पड़ा, जिसमें बालविवाह की आज्ञा और विधवाविवाह का निषेध किया गया हो।"

## ४३–मिस्टर जान डी मैन।

ये महाशय कानून के प्रसिद्ध पण्डित हुये हैं। इन्होंने हिन्दू ला के संबंध में कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनका भारत के न्यायालयों में बड़ा आदर है। ये अपनी कानून की प्रसिद्ध पुस्तक "मैन आफ हिंदूला" के पृष्ठ ६५ व ६६ में लिखते हैं:—

"स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध या वधव्य की दशा में उनका त्याग प्राचीन हिंदू कानून या रिवाज़ के अनुसार सिद्ध नहीं होता। डाक्टर मेयर ने वेदों के मंत्र उद्धृत किये हैं, जो विधवाविवाह की आज्ञा देते हैं। आरम्भ के शास्त्रकारों ने स्त्रियों के पुनर्विवाह की आज्ञा दी है, जिन्होंने अपने पति को त्याग दिया हो या जिनका पति मरगया हो।"

## ४४–डाक्टर बुल्हर।

ये भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे. इनकी आयु का विशेष भाग संस्कृत साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन में व्यतीत हुआ। पूना के शास्त्रार्थ में जो पं० विष्णु शास्त्री का विधवा-विवाह के विपक्षियों से हुआ था, ये भी मौजूद थे। इन्होंने उसमें पं० विष्णु शास्त्री को बड़ी अमूल्य सहायता दी थी।

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक के प्रपाठक ६ का १४वां मंत्र, जिसके भाष्य में सायण ने स्पष्ट विधवाविवाह का विधान किया है, इन्होंने ही खोजकर निकाला था, जिसको देखकर विपक्षियों के मुंह सूखगये।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने विधवाविवाह के अनुकूल अपनी सम्मति प्रकट की है। यहां पर हम केवल उनका संक्षिप्त परिचय भी देंतो यह पुस्तक बहुत बढ़ जायगी। अतएव अब हम प्रसिद्ध देशभक्त ठाकुर शिवनन्दनसिंह की सम्मति को जो उन्होंने विधवाओं की शोच-

नीय दशा पर स्वरचित 'देश दर्शन' नामक पुस्तक में प्रकट की है, उद्धृत करके इस परिशिष्ट प्रकरण को समाप्त करते हैं।

## ४५–ठाकुर शिवनन्दनसिंह

"सब के ऊपर भारतमें २ करोड़ ६० लाखसे अधिक विधवायें हैं। मैं इनके आचरण पर आक्षेप नहीं करता। पर सोचने की बात है कि इनमें प्रायः सभी मूर्खा हैं। वेद, शास्त्र, धर्म और ज्ञान से सर्वथा वञ्चित हैं। वे केवल यह जानती हैं कि उनके कुल में विधवाविवाह नहीं होता। क्यों नहीं होता? इस का वे कुछ उत्तर नहीं देसकतीं। केवल भाग्य में लिखा है, कर्म फूट गया है, आदि कहकर मनकी तरङ्गों को शान्त करती हैं। पर इन स्त्रियों की शैतान पंडों, पुरोहितों या ऐसे ही अन्य पाखण्डियों से भेंट हो जाने पर और मौक़ा मिलने पर भाग्य के बल पर ये कबतक कामदेव से युद्ध करसकती हैं? आख़िर तो मूर्खा स्त्रियां ही ठहरीं न, उनकी कमज़ोरी उन्हें यह समझा कर संतोष करने के लिए लाचार कर देती है कि "यह दुराचार भी विधाता ने उनके भाग्य में लिख रक्खा होगा, वे स्वयं धर्मच्युत नहीं होरहीं हैं, किंतु यह भी उनके दुर्भाग्य का परिणाम है। जिस दुर्भाग्य ने उन को जर्जर पति की पत्नी बनाया और उसे भी रहने न दिया, वही भाग्य पिशाच उन को आज गढ़े में झोंक रहा है। चलो यहभी सही "विधि का लिखा को मेटन हारा।"

"विश्वबन्धु के मकान के पास ही एक कुलीन ब्राह्मण महाशय का घर था। उनके यहां एक परम रूपवती युवती विधवा थी। उनके घर पर्दे का कड़ा नियम था तो भी विश्व बन्धु बे रोकटोक उनके यहां आया करते थे। कुछ दिनों के बाद जब न जाने क्यों ब्राह्मण महाशयने मकान छोड़देने का

निश्चय किया, तब विश्वबंधुने अपनी मां से कहसुनकर उस मकान को मोल लेलिया। ब्राह्मण महाशय सपरिवार अपने देश कन्नौज को चलेगये। विश्वबंधुने उस मकान की मरम्मत शुरू कराई। एक कोठरी जिसे पण्डिताइन ठाकुरजी की कोठरी कहा करती थीं और जो साल में केवल कुलदेवता की पूजा के समय खोली जाती थी, बड़ी सड़ी नम और बदबूदार थी। उसे पक्की करादेना निश्चय हुवा। नम मिट्टी को खोदने के लिए मज़दूर लगायेगये। सुनाजाता है कि उसमें से एक ही उमरके बच्चों के कई पंजर निकले। एक तो बिलकुल हालहीका दफनाया जान पड़ता था। प्रभो ! भारत को ऐसे भयङ्कर पापों से बचाइये !! ”

“भारत में ये कई लाख वेश्यायें कौन हैं? हम भारतवासियों के घरकी विधवायें, हमारी ही बहनें और बेटियां तथा उनकी सन्तति, हमारी ही असावधानी, निर्दयता और निष्ठुरता के कारण उनकी यह दशा हुई है।

हमारा समाज जिसे हम मूर्खतावश अत्युत्तम समझ बैठे हैं और जिसकी बनावटी पवित्रता पर हम फूले नहीं समाते, बिलकुल निर्जीव; निर्बल और सर्वथा अशिक्षित मनुष्यों का समूह है। इस समाज को सच्चरित्र स्त्रियों का शाप और दुश्चरित्र स्त्रियों का पाप भस्मीभूत कररहा है और यदि इस पर लोगों ने ध्यान न दिया तो ये शाप और पाप कुछ ही काल में समाज को जलाकर भस्मसात् करदेंगे। सावधान ! ! !

[ देशदर्शन पृ० १८०—१८२ ]

## ॥ समाप्त ॥

# भारतीय बालविधवाओं की संख्या

## सन् १९११ई०

| अवस्था | संख्या |
|---|---|
| १ वर्ष तक | १००० |
| १ से २ " | २००० |
| २ से ३ " | ४००० |
| ३ से ४ " | ७००० |
| ४ से ५ " | २७००० |
| ५ से १० " | २८५००० |
| १० से १५ " | १५२०००० |
| १५ से २० " | ४२१०००० |
| योग | ६०५६००० |

२० से ऊपर ६० वर्ष तक की विधवाओं की संख्या २ करोड़ के लगभग है। १२ करोड़ स्त्रियों में ३ करोड़ के लगभग अर्थात् एक चौथाई विधवा हैं।

# बेवा की फ़रयाद ।

हिन्दुओ ! तुमको अगर कुछ भी दिखाई देता ।
चर्ख़ पर नाला मेरा यों न दुहाई देता ॥
मैं वह बेकस हूं कि जुज़ नाला कोई काम नहीं ।
दर्द होता तो तुम्हें भी वह सुनाई देता ॥
तीरह बख़्ती से शबे ग़म है भयानक ऐसी ।
जिसमें जुज़ दर्दो अलम कुछ न सुझाई देता ॥
इस मुसीबत की ख़बर होता जो पहले मुझको ।
मैं न लेतो जो ख़ुदा साथ ख़ुदाई देता ॥
इससे बेहतर तो यही था कि ख़ुदा से पहले ।
मांग लेती जो मुझे मौत बिन आई देता ॥
कौन से जुर्म में गर्दानी गई हूं मुजरिम ।
और तो और तसल्ली नहीं भाई देता ॥
फूल से मिलने की उम्मीद जो जाती रहती ।
कौन बुलबुल को सरे नग़मे सराई देता ॥
मेरे गुलशन को भी बर्बाद न करती ये ख़िज़ां ।
काश आहों को मेरा बख़्त रसाई देता ॥
बेसमर ज़िन्दगी होती न 'फ़िदा' बेवों की ।
क़ैदे ग़म से जो इन्हें कोई रिहाई देता ॥

# हिन्दी साहित्य में मौलिक पुस्तकें।

## विचार कुसुमाञ्जलि।

१—क्या आप हिन्दी में मौलिक और स्वतन्त्र विचार देखना चाहते हैं ?

२—क्या आप सामयिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर एक गम्भीरदृष्टि डालना चाहते हैं ?

३—क्या आप अपने २ धर्म और कर्तव्य का पालन करते हुये भारत को राष्ट्र बनाना चाहते हैं ?

४—क्या आप उन ज़हरीले कीड़ों का पता लगाना चाहते हैं, जिन्होंने आपके समाज की जड़ खोखली कर दी है ?

५—क्या आप धर्मवाद को जो राष्ट्र का प्रतियोगी बनाहुआ है, राष्ट्रवाद के अनुकूल बनाना चाहते हैं ?

६—क्या आप अपनी सभ्यता की रक्षा करते हुये दूसरों की सभ्यता से लाभ उठाना चाहते हैं ?

७—क्या आप भारतकी समस्त जातियोंको एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधना चाहते हैं ?

८—क्या आप नैतिक उच्च आदर्शों पर भारत के भविष्य की नींव रखना चाहते हैं ?

यदि आप इन गूढ़ समस्याओं को देश की वर्तमान दशा अनुकूल हल करना चाहते हैं तो बिना विलम्ब इस पुस्तक मंगाइये। हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचकों ने इस की बड़ी मर्मस्पर्शिनी आलोचना की है। आकार मझोला पृष्ठ संख्या १४० दाम ॥=) दस आना।

मनेजर वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद।